प्रकाशक—

## विनोद पुस्तक मन्दिर,

हास्पिटल रोड, आगरा।

मुद्रक—

कैलाश प्रेस, [illegible]

# अपनी बात !

'साहित्यालोचन-सिद्धान्त' में हमने छात्रों के हित की दृष्टि से काव्य सम्बन्धी सभी विषयों को संक्षेप में सरलता पूर्वक पाठ्य-ग्रन्थ के क्रम को ध्यान में रखते हुये स्वतंत्ररूप से, प्रस्तुत किया है। जहाँ आवश्यकता समझी, पाद-टिप्पणियाँ भी देदी गई हैं कि जो छात्रों को कई अन्य ग्रन्थों और विद्वानों के मतों को जानने के लिये इधर-उधर भटकने से खोज करने की अड़चन से बचाने में लाभप्रद सिद्ध होंगी।

इतनी छोटी पुस्तक में 'साहित्यालोचन' या 'काव्यमीमाँसा' जैसे विशाल विषय को सरलता पूर्वक देकर, हम विश्वास करते हैं, छात्रों को इससे अवश्य ही लाभ होगा। भाषा की जटिलता एवं पुनरावृत्ति में साहित्यालोचन के मूलतत्त्वों का आभास जो धुंधला-सा पड़ जाता था, हम समझते हैं, इस पुस्तक द्वारा स्फीत रूप से छात्रों को मिल सकेगा।

हमें आत्मविश्वास है, छात्र इस पुस्तक द्वारा अध्ययन में पर्याप्त सरलता का अनुभव करते हुए विषय के वास्तविक स्वरूप से भी परिचित हो सकेंगे। यदि हमारा यह विश्वास सत्य निकला तो हम अपने प्रयास को सफल समझेंगे।

जयपुर।
दिनाङ्क माघ शु० ५ चन्द्र २००६ वि०,          निवेदक,
लेखक।

# विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

( १ )

(८)

# साहित्यालोचन सिद्धान्त

## ( १ )

### मनुष्य और उसके संस्कार

मनुष्य वासनाओं का पुतला है। उसमें चेतना है। वह संसार को देखता है। संसार के नाना चित्रों की छाप उसके मानस-पलट पर बैठती रहती है। जैसे २ मनुष्य सभ्य होता जाता है उसकी यह छाप निखरती जाती है। उसका सृष्टि-प्रसार फैलता जाता है। उसका सृष्टि-सम्पर्क उसके अनुभवों को उन्नत करता है। इन अनुभवों की अभिवृद्धि के साथ २ उसमें स्मृति, इच्छा, कल्पना आदि का प्रादुर्भाव हो जाता है जिससे कि मनुष्य की विवेक वृत्ति स्वतः ही जाग पड़ती है। विवेक वृत्ति संसार को दो भागों में बाँट कर उसके समक्ष उपस्थित करती है :—

( १ ) सत्पक्ष और

( २ ) असत्पक्ष। संसार की सत्-असत् अथवा उचित-अनुचित की धारणा जैसे ही मन में जमती है, वहीं से मनुष्य अपने संस्कार-जन्य इस ज्ञान को अभिव्यक्त करने को आतुर हो जाता है। यहाँ तक मनुष्य का स्वरूप परम्परा प्राप्त जन्मजन्मान्तर सिद्ध-संस्कार और वृत्तियों से सम्पन्न होने से केवल उसका भावात्मक रूप ही कहलाता है। इससे आगे जब वह अपनी वृत्तियों को व्यक्त करने लगता है, उसका सम्बन्ध

शेष सृष्टि से भी स्थापित होने लगता है और तब उनमें बाहर-भीतर का सम्पर्क होने से वह धीरे २ जटिल होता चला जाता है। यह मानव-विकास की वह स्थिति है जहाँ से साहित्य-सर्जना, और उसके साथ आलोचना, दोनों ही का श्री गणेश हो जाता है।

## मनुष्य और अभिव्यञ्जना वृत्ति

जैसे ही मनुष्य का अन्तरात्मा बाहरी जगत् को देखता है, अनुभव करताहै, तो वह उसे प्रकट भी कर देना चाहता है। आरंभ में उसके भावाभिव्यञ्जन के साधन अविकसित रहते हैं; किन्तु, धीरे-धीरे इस अभिव्यञ्जना शक्ति का विकास होता जाता है, उसके विविध प्रकार निकलते रहते हैं। इन्हीं भावाभिव्यञ्जन के विविध-प्रकारों को 'कला' की संज्ञा दी जाती है।

## मनुष्य और जगत् का संघर्ष

मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है वह संसार पर अधिकार जमाना चाहता है। अधिकार जमाने के लिए वह अपने विचारों से जगत् को प्रभावित करना चाहता है। जगत् को प्रभावित करने के लिये वह संसार और उसके भिन्न २ चित्रों के सम्बन्ध में अपना मत, सिद्धान्त अथवा नियम प्रकट करने को आतुर रहता है। यहाँ से वह बुद्धिजीवी बनकर चलने लगता है। अब वह मीमाँसक, कलाकार व दार्शनिक सभी एक साथ बनकर जगत् के साथ संघर्ष करने में आनन्द लेने लगता है। परिणाम यह होता है उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति बलिष्ठ होती जाती है, और वह संसार में 'कला' की प्रतिष्ठा करता है।

## कला

मनुष्य की मीमाँसा व दर्शन की वृत्ति कला नहीं है। उसका

तर्क कला की श्रेणी में नहीं आ सकता। यद्यपि इनके द्वारा भी वह अपने को अन्य पर अभिव्यक्त ही करता है, और अभिव्यक्ति के साधन ही का नाम कला है तब भी दर्शन, विज्ञान, तर्क आदि का कला से कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। कला का सीधा सम्पर्क तो, जगत् की वस्तुओं का जैसा प्रतिबिम्ब मनुष्य के मनपट पर पड़ता है, इसी से है।

## (क) कला और मन

विद्वानों ने मन की क्रिया को तीन भागों में बाँटा है :—

१—†ज्ञान

२—‡भावना और

३—*इच्छा। भारतीय शास्त्रों में इस प्रकार का मानस विश्लेषण मिलता है :—

१—ज्ञान

२—इच्छा और

३—प्रयत्न। ये बुद्धि-व्यापार की तीन अवस्थाएँ हैं। अभी विद्वानों में विवाद चल रहा है कि पहिले इच्छा शक्ति का विकास हुआ या भावनाशक्ति का। इस विषय में कई लोगों के कई मत है, परन्तु हम तो यही मानते हैं कि कला का सम्बन्ध 'इच्छा' से नहीं 'भावना' से है, अतः पहिले भावना होती है तभी इच्छा का स्थान आता है। कला अभिव्यक्ति का साधन है। भावना कला की जननी है। इच्छा उसका प्रयोग कराने में सहायक है, कला में विकास के साथ २ समाज के हित-अहित की भावना बढ़ने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति में दृढ़ता आया करती है, अतः भावना के पश्चात् ही इच्छा का

†Knowing, ‡Feeling, *Willing.

स्थान हो सकता है। 'ज्ञान' शक्ति का कार्य 'भावना' व इच्छा का योग करा के उन्हें चैतन्यता देना है।

इस विवेचन से सिद्ध है कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक विकार-विकास से है और मन का स्वरूप भाव पर आश्रित है, भाव मानस क्षेत्र का प्रधान व्यापार है। अतः भाव ही कला का मूल है।

## ( ख ) कला और बाह्य जगत (प्रकृति)

कला का पोषण कहिये या भावनाओं का प्रस्फुरण कहिये प्रकृति-भण्डार से होता है। मनुष्य का प्रकृति से स्वाभाविक राग है। मनुष्य जो कुछ प्रकृति से लेता है, उसे अपनी अभि-रुचि के रंग से रंगकर कलाओं द्वारा पुनः बाह्यविश्व (समाज) को दे देता है। यह लेन-देन ही साहित्य है। साहित्य के द्वारा मनुष्य अपनी वासनाओं की, अपने संस्कारों की और अपनी वृत्तियों की तृप्ति करता रहता है।

## (ग) काव्यानन्द और प्राकृतिक आनन्द

प्रकृति की अभिव्यंजना ही कला है, तब भी भारतीय विद्वान् प्राकृतिक आनन्द और काव्यानन्द में बहुत बड़ा अन्तर मानते हैं। भारतीय दृष्टि से काव्यानन्द लोकोत्तर है, परन्तु, आधुनिक विद्वान् काव्यानन्द व प्राकृतिक आनन्द में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। इस विवाद को हम तो इस प्रकार सुलझा देते हैं कि जो लोकक्षेत्र ( प्राकृतिक क्षेत्र ) की वस्तु या विषय है, उसमें व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और वही प्राकृतिक विषय जब काव्य-क्षेत्र का विषय बन जाता है, तब उसका ‡व्यक्तित्व हटकर

‡इसे काव्य-क्षेत्र में 'साधारणीकरण की प्रक्रिया' कहते हैं।

संकोच नष्ट होकर वह सार्वदेशिक, सामूहिक और सर्वकालीन बनकर, व्यापक होनेसे लोकोत्तर आनन्द का विषय बन जाता है।

## ( घ ) कला और यथार्थवाद

इसी सिद्धान्त पर हम कला में यथार्थ का कोई स्थान नहीं मानते। यथार्थ-सी और यथार्थ में बड़ा अन्तर है। कला 'यथार्थसी' के क्षेत्र में आती है, 'यथार्थ' के में नहीं। 'सी' का अर्थ यथार्थवाद का विरोधी भाव है। जो यथार्थ नहीं पर यथार्थ-सी दीखे या दिखावे वह कला है। यथा–काष्ठ का या चित्र का घोड़ा या हाथी वास्तव में न दाना खाता है, न गन्ना, न बोझा ढोता है न सवारी बिठा सकता है न चलता है न बोलता, पर है घोड़ा वा हाथी ही। बस यही कला का जादू है कि जो वस्तु वास्तव में नहीं उसे वास्तविक करके दिखादे और विद्वान से विद्वान वा अविकसित बुद्धि बालक को समान-तल पर खड़ाकर मुँह से 'वाह' निकलवा दे।

घोड़े या हाथी में पूर्ण यथार्थता नहीं है, यह मानी हुई बात है, परन्तु उनके, घोड़े-हाथी होने में भी सन्देह नहीं है। इसी लोकोत्तरता में आनन्द है। उसी आनन्द में कला जीवित है, और इसी पर साहित्य ( काव्य ) का कलेवर टिका हुआ है। लोक में जो व्यापार व्यक्ति प्रधान होने से निन्द्य हो सकता है, वही काव्य में आकर ग्राह्य बन जाता है। अतः कह सकते हैं लोक का यथार्थ काव्य में आकर आदर्श बन जाता है, लोक अपनी दृष्टि से उसे भले ही यथार्थ कहे, कलाकार की दृष्टि तो उसे कभी यथार्थ कह नहीं सकती। इस विवेचना पर ही कला और आचार का भी सम्बन्ध बनता है।

## ( ङ )※ कला और आचार

सृष्टि में संयम का बहुत बड़ा स्थान है। उपयोगिता और सुन्दरता अपने विपरीत अनुपयोगिता वा कुरूपता के भावों के साथ सृष्टि में अपना साम्राज्य बनाये हुए हैं ; संसार द्वन्द्व रूप है। रात-दिन, अन्धकार-प्रकाश, सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, सुन्दर-कुरूप, उपयोग-अनुपयोग, हार-जीत, जीवन-मरण, उत्थान-पतन, इन सब पर यदि नियंत्रण न किया जाय तो सृष्टि में, विघटन का क्षण उपस्थित हो सकता है। यही कारण है समाज का परिष्कार, नियंत्रण, सद्वृत्ति-प्रसार, असंयम, अनियंत्रण व असद्वृत्ति का बहिष्कार की भावना पाई जाती है। समाज की इसी भावना ने कला और आचार का निसर्गसिद्ध सम्बन्ध सिद्ध कर दिया है। पश्चिम के दोनों दल मनुष्य की दबी हुई भावनाओं को-जिनको वह सभ्यता व नियंत्रण के कारण व्यक्त नहीं कर सकता, प्रकट करने का साधन कला को मानते हैं। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। पश्चिम अभी मनुष्य और उसकी वृत्तियों की

---

※ इस विषय को लेकर पश्चिम में दो दल खड़े होगये हैं—

पहला—दलकला और कविता को कल्पना मूलक मानता है. इस दल के आचार्य श्री फ्रायड हैं, आपने स्वप्न-विज्ञान की प्रतिष्ठा की है।

दूसरा—दल यथार्थवाद को लेकर चलने वाला दल है जो भी लगभग ऐसी ही बातें मानता है।

तीसरा–दल 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त लेकर चलता है। इस दल के विचार से भी कुत्सित भावों के प्रकाशन का साधन ही कला है। कला के क्षेत्र में यह दल, सभ्य-असभ्य, सद्-असद् का विवेक नहीं करना चाहता। आचार को कला से दूर करता है

तइ तक नहीं पहुँचा है। पश्चिम के विद्वान मनुष्य की मूल मनोवृत्तियों को केवल शरीर-जन्य ही मानते हैं एवं अन्य उदात्त वृत्तियाँ उसमें ( मनुष्य के ) सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार जागृत होती हैं। कितनी उपहासास्पद कल्पना है। मनुष्य की चेतना शक्ति के प्रति जिनकी गति न हो उन्ही के सिद्धान्त ऐसे हो सकते हैं। भारत ने सदा मनुष्य और पशु का अन्तर समझा है। उसने मानव के बाहर-भीतर दोनों भागों का अध्ययन किया है। यही कारण है कला के द्वारा वे मनुष्य की कुत्सित वृत्तियों का प्रकाशन होना नहीं मानते। वास्तविक सत्य किन्तु, छिप नहीं सकता। सत् के प्रति समाज का आकर्षण और असत् के प्रति द्वेष एक ऐसा स्वाभाविक प्रमाण है कि आचार और कला का स्वतः ही सम्बन्ध बन जाता है। पश्चिम में भी अब कुछ दिन से लोग इस ओर विचार करना अपना कर्त्तव्य समझने लगे हैं।

## कलाओं का वर्गीकरण

कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। पर विद्यार्थी के सौकर्य के लिए-उसे समझने के लिए उसके विभागों की योजना कर लेना आपत्तिजनक नहीं होना चाहिए। प्रथम कला के दो प्रकार हैं:—

( १ ) उपयोगी कला और

( २ ) ललित कला।

उपयोगी कला का सम्बन्ध मनुष्य की आवश्यकताओं से है। और दूसरी अर्थात् ललितकला का अलौकिक आनन्द से। दोनों ही मनुष्य की उन्नति और विकास की द्योतक हैं। अन्तर इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है, और दूसरे का उसके मानसिक विकास से। मनुष्य की मानसिक तृप्ति के लिये उसे सौन्दर्य का आवि-

भाव करना पड़ता है। सौन्दर्य का आदर्श सभ्यता-संस्कृति,स्थान व देश विशेष की अपनी २ रुचि के अनुसार भिन्न २ होता है। यथा चीन के छोटे पाँव भारत में सुन्दर नहीं माने जा सकते और भारत की काली आँखें, और लम्बे बाल यू रप में कोई महत्त्व नहीं रखते। हाँ, इतना अवश्य है कि कहीं भी कोई रहे सौन्दर्य की प्यास सभी में रहती है। मनुष्य, इसलिए, वस्तुओं को यथाशक्ति अपने संस्कारों के अनुसार सुन्दर बनाकर उपयोग में लाता है। इससे सिद्ध होता है कि किसी भी वस्तु को सुन्दर व उपयोगी बनाने वाले साधन को ही कला कहते हैं।

## ललितकला और उसका आधार

ललित कलाओं के दो भाग हैं:—

(क)-वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति करती हैं और (ख)-वे जो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा आत्मतोष देती हैं। नेत्रेन्द्रिय से जिसका सम्बन्ध है उस ललित कला का आधार मूर्त्त पदार्थ होता है, परन्तु दूसरी में यह आधार वाँछनीय नहीं रहता। कलाओं की तारतम्य मूर्त्त आधार की ही न्यूनता व अधिकता पर किया जाता है। जिस कला में मूर्त्त आधार जितना ही कम होगा, वह उतनी ही उच्चकोटि की समझी जायगी। ज्यों-ज्यों हम ललित कलाओं की उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों ही मूर्त्ततत्त्व का ह्रास होता जाता है। जहाँ मूर्त्ततत्त्व का बिल्कुल अभाव होजाता है, वहाँ कला का सर्वोत्तम प्रकार सामने आजाता है।

ललित कलाओं में—

क—वास्तुकला
ख—मूर्तिकला
ग—चित्रकला

घ—संगीत कला और

ङ—काव्यकला की परिगणना होती है। इनमें क्रमशः मूर्त्ततत्त्व का ह्रास होते-होते अन्त में काव्य-कला तक पहुँचते २ मूर्त्ततत्त्व का सर्वथा अभाव हो जाता है। वास्तुकला में ईंट-पत्थर, चूना, बल्ली-बाँस व राज के औजार ये सब मूर्त पदार्थ उसके आधार हैं। मूर्तिकला में मूर्तिकार की छैनी-हथौड़ा व प्रस्तर-खण्ड जिसमें वह आकार अंकित करता है मूर्त्त द्रव्य हैं। इसी प्रकार चित्रफलक, रंग, तूलिका आदि चित्रकला के दृश्य आधार हैं, और संगीत में नाद का आरोह या अवरोह ही उसका मूर्त्त आधार होजाता है। हाँ, इतना है कि क्रमशः मूर्त्तद्रव्य का ह्रास अवश्य है। मूर्त पदार्थ के इस क्रमागत ह्रास का काव्य-कला में आते आते बिल्कुल अभाव, सा ही हो जाता है। यही कारण है काव्य-कला का स्थान सर्वोच्च है। यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि काव्य-कला में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, परन्तु शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद सौंदर्य रूपी मूर्त्त आधार की उत्पत्ति होती है। भारतीय काव्य-कला में, पाश्चात्य काव्यकला की अपेक्षा, नाद-रूप मूर्त्त-आधार की योजना अधिक रहती है, परन्तु, अर्थ की रमणीयता के समान इसे काव्य का स्थिर धर्म नहीं माना गया है।

## ललितकलाओं का परस्पर सामञ्जस्य

प्रत्येक कला मानसिक भावनाओं का व्यक्तरूप उपस्थित करती है। राजके मन की कल्पना 'ताजमहल' के रूप में आज भी उपस्थित है। मूर्तिकार का मानस-बिम्ब मूर्ति में उतर आता है। इसी प्रकार मन के भाव तूलिका की नोक से बरस कर किसी आकृति विशेष को जन्म देते हैं, और काव्य में वे ही भाव मान-

सिक जगत् को रस-प्लावित कर देते हैं। संगीत चित्र व काव्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कवि रागतत्त्व के द्वारा शेष सृष्टि से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध स्थापना में वह भाषा का उपयोग करता है, यदि वह चाहे अपने भावों को चित्रमयी भाषा में भी प्रकट कर सकता है। शब्द-चित्र के साथ २ यदि तूलिका-चित्र भी रहे तो कवि का मानस मानो सजीव हो उठता है। इसी प्रकार काव्य यदि संगीत की स्वरलहरी का आधार लेकर प्रकट होता है तो मन को मुग्ध करने की उसकी शक्ति मानो शतगुणित अधिक हुई सी जान पड़ने लगती है। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी ललित कला क्यों न हो वह एक ही कार्य, भाव प्रकाशन का साधन होने से, एक दूसरे से बहुत कुछ आपसी सम्बन्ध रखती है। अन्तर यही है कि प्रथम चार ललित कलाएँ *बाहर से भीतर प्रभाव डालती हैं, और काव्य कला आन्तरिक ज्ञान पर ही पूर्णतया अवलम्बित होने के कारण चित्र आदि की अपेक्षा अधिक स्थायी, और अपने आप में पूर्ण होती है। यही कारण है काव्यकला को मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अन्तर्वृत्तियों की समष्टि या लेखा कह सकते हैं।

---

* यहाँ बाहर से भीतर प्रभाव डालने का यही अर्थ है कि प्रथम चार कलाएँ मानसिक क्रिया का एककालिक परिणाम बनकर बाहर जो रूप ग्रहण करती हैं उसी का द्रष्टा पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ चित्र की मानसिक कल्पना आनन्द-दायिनी नहीं हो सकती, संगीत का ध्यान सुखद नहीं हो सकता, किन्तु, कविता का अर्थावगम ही, विचार ही, मन में गुदगुदी उत्पन्न कर देता है।

( २ )

## साहित्य और उसका दर्शन—

संसार के जीव दो प्रकार के तत्त्वों के सम्मिश्रण से बने हैं:—

क—आत्मतत्त्व और

ख—अनात्मतत्त्व

आत्मतत्त्व अपने निर्विकल्परूप में प्रत्यगात्मा है, और अनात्मतत्त्व मूल प्रकृति। इन्हीं को जड़ चैतन्य की ग्रन्थि भी कहते हैं। संसार के जीवों की भिन्न २ प्रकृति, आकृति, भाव-विचार, सभ्यता-संस्कृति राष्ट्र, समाज व वर्ग इन्हीं दोनों तत्त्वों की न्यूनाधिकता के आधार पर निर्मित होते हैं।

मनुष्य ने अन्य कलाओं की भाँति साहित्य की भी सर्जना की है। मनुष्य में उक्त आत्म व अनात्म तत्त्वों की सत्ता रहती है, इसलिये उसका साहित्य भी आत्म और अनात्म के सहित रहता है। हमारे प्राचीन विचारकों ने आत्म-अनात्म, पुरुष और प्रकृति इन सब भेदों को परमात्मा में विलीन कर देने की व्यवस्था की है। यह व्यवस्था हिन्दू-दर्शन की अपनी एक विशेषता है। इस प्राचीन दार्शनिक विशेषता के कारण अनेक में एक और एक में अनेक को दिखाने की शक्ति है। इसी दर्शन के आधार पर जगत में 'ब्रह्म' की और साहित्य में 'रस' का निरूपण किया गया है। साहित्य का 'रस' लौकिक नहीं है। उसको ब्रह्म के ही समकक्ष प्रतिष्ठित किया गया है। यही कारण है हमारी लौकिक इच्छायें साहित्य में पहुँच कर भावना का रूप धारण कर लेने के कारण, परिष्कृत होकर व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त होकर समष्टि

की बन जाती हैं। इस प्रकार साहित्य के अनन्त भावों को रस के अलौकिक आनन्द में सम्पुटित कर शास्त्रकारों ने साहित्य-कला का स्वरूप निरूपित किया है।

## साहित्य-कला

साहित्य भी अन्य कलाओं की भाँति आत्माभिव्यञ्जन सम्बन्धी एक नैसर्गिक व अखण्ड सृष्टि है जिसकी सर्जना चैतन्य मनुष्य ने की है। जीवन के असंख्य आत्म-अनात्म तत्त्व संयुक्त रंगरूपों से साहित्य की कला शोभामयी बनती है। हमारी भावधारों से उद्वेलित होने वाला 'रस' ही साहित्य की आत्मा है; उसी रसात्मा से साहित्य का स्वरूप सुरक्षित रहता है। यह रसात्मा अनेकानेक संयत भावों के संयोग से निष्पन्न होता है। इस रसात्मा को ही 'आनन्द' संज्ञा भी दी जाती है। रसानन्द को हमारे प्राचीन आचार्यों ने ब्रह्मानन्द सहोदर माना है। यूरोपियन साहित्य शास्त्री क्रोचे भी साहित्य की प्रक्रिया को आध्यात्मिक मानता है।

## साहित्य और विज्ञान के जगत् का अन्तर ?

साहित्य में आकर्षण और विज्ञान में विकर्षण का भाव रहता है। इसका कारण यह है कि साहित्य का जगत् भावना और कल्पना का जगत है जब कि विज्ञान का जगत् बुद्धि-वैभव का मैदान। वास्तव में दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ है।

जहाँ साहित्य, और विज्ञान सहयोगी बनकर चलते और उन्नति करते हैं वहाँ मानव जाति का अधिक से अधिक हित संभव होता है।

वैज्ञानिक वस्तुओं के गुण, रूप, रचना वा स्वभाव के

विषय में विचार करता है जब कि साहित्यिक उनके सौन्दर्य की प्रदर्शनी सजाकर उन्हें आकर्षक बनाकर दिखाता है। वह अनन्तकाल से, अनन्त साधनों द्वारा अनेक भाषाओं में भिन्न २ रीतियों से भाव कुसुम सजाकर साहित्य की अपार शोभा से, सृष्टि को आकर्षित करता है।

## साहित्य के दो समूह

कुछ विद्वानों ने साहित्य को दो‡ समूहों में बाँटा है :—

क—ज्ञान का साहित्य और

ख—भाव का या शक्ति का साहित्य।

अँग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' की भाँति हिन्दी का 'साहित्य' शब्द किसी भाषा में होने वाले लिपिबद्ध या प्रकाशित सभी प्रकार के भाव समूह के लिये एवं काव्य के लिये दोनों अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है।

अधिकतर पुस्तकें ज्ञानवृद्धि के लिये ही लिखी जाती हैं। इतिहास, भूगोल, तर्कशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष व

‡In that great social organ, which. collectively, we call literature, there may by distinguished two separate offices that may blend and often do so, but capable, severally, of a severe insulation. and naturally fitted for reciprocal repulsion. There is first, the literature of 'Knowledge', and, secondly, the. literature of power The function of the ffrst is to teach and the function of the scond is to move........

De. Quincey.

विज्ञान की पुस्तकों से मनुष्य की तत्तत् विषय की जानकारी बढ़ती है। इस प्रकार ज्ञान बढ़ाने वाली पुस्तकें साहित्य के 'क' वर्ग में आ सकती हैं— साहित्य के वास्तविक अर्थ में उनका प्रयोग नहीं होने से वे 'ख' वर्ग में स्थान नहीं पा सकतीं। 'ख' वर्ग में आने वाली रचनाओं के आधार पर तो मनुष्य के जीवन का दायरा व्यापक होता है वह अपने सां-ारिक दुःख, और संकटों को क्षण भर के लिये भूल सकता है। इस धरातल से ऊँचा उठकर भावनालोक के अलौकिक सुख अर्थात आनन्द का आस्वादन कर सकता है।

## साहित्य और सुरुचि

साहित्य में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्म व अनात्म दोनों ही तत्त्वों का स्थान होता है। परन्तु, सुरुचि का आरस

---

"what do you learn from paradise lost, Nothing at all What do you learn from cookery book of something new-something that you did not know before, in every paragraph. But would you therefore put the wretched cookery book on a higher level of estimation than the divine poem. What you owe to milton is not any knowledge, of which a million separate items are still but a million of advancing steps on the same earthly level, what you owe is power, that is exercise and expansion to your own latest capacity of sympathy with the infinite, where every pulse and each separate influx is a step upwards etc.

"By Dequincey"

आँख नहीं मूँदी जा सकती। जहाँ सुरुचि का प्रश्न उठता है, वहीं साधुता और असाधुता का विवेक स्वतः ही हो जाता है। जिस साहित्य में आत्मतत्त्व अधिक होगा उसमें साधुता, सत-भाव और जिसमें अनात्मतत्त्व अधिक होगा उसमें असाधुता और असद्भाव का ही प्राबल्य होना आवश्यक है।

साहित्य का प्रभाव हृदय पर गहरा, स्थिर एवं व्यापक पड़ता है अतः उसमें अनात्मतत्त्व का ह्रास ही हितकर माना जाता है, और यही कारण है कि साहित्य और सुरुचिका अभेद्य सम्बन्ध हो जाता है।

## साहित्य और काव्य

भारतीय क्षेत्र में साहित्य काव्य का ही पर्याय है। यही कारण है हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने साहित्य-दर्पण आदि रीति ग्रन्थों में काव्य शब्द का वही अर्थ किया है जो साहित्य का वास्तविक अर्थ है।

## काव्य की भिन्न २ परिभाषायें

श्री विश्वनाथ ने काव्य को रसात्मक वाक्य माना है। यहाँ 'रस' का अर्थ है 'आनन्द'। पाठक या श्रोता के चित्त में जिस रचना के द्वारा विशेष प्रकार की मानसिक अवस्था उत्पन्न हो जाय वही काव्य है। पंडितराज श्री जगन्नाथ का मत है कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।' रमणीय अर्थ का तात्पर्य है सौन्दर्य सृष्टि के द्वारा पाठक या श्रोता के मन में आनन्द की उत्पत्ति करना। इन परिभाषाओं के बल पर कह सकते हैं कि काव्य के लिए आवश्यक नहीं कि वह किसी विषय ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिए सबसे आवश्यक यही है कि अपने विषय को वर्णन शैली से पाठक के हृदय में उस आनन्द का प्रवाह उत्पन्न करदे जो रसानुभव से सम्पन्न होता

है। इस प्रकार अब कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करदे।

जो रचना कला के उद्देश्य की पूर्ति करती है वही काव्य श्रेणी में परिगणित की जा सकती है नाटक, चम्पू, कविता, उपन्यास कहानी, एकाँकी, गद्य-गीत, ये सभी काव्यकला की भिन्न २ अभिव्यञ्जना शैलियाँ होने से साहित्य ( काव्य ) के अन्तर्गत आसकते हैं, एवं ज्योतिष, गणित, भूगोल, इतिहास अर्थशास्त्र आदि नहीं।

## साहित्य और साहित्यकार

इन दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेखक के अपने अनुभवों, विचारों, सिद्धान्तों का उसकी रचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कलाकार अपने समय का पिछलगा होता है। युगधर्म को छोड़कर वह चल नहीं सकता, और साथ ही अतीत की वह देन होता है। अतः अतीत, और वर्त्तमान को मिश्रित कर अपने व्यक्तित्व से अनुरंजित करके कलाकार अपनी कृति में रखता है। साथ ही उसकी अपनी भाव-प्रकाशन की शैली भी निराली होती है। यही कलाकार की वह विशेषता है जो उसे अपने काल के कलाकारों से भिन्न करके बतलाती है। इसी विशेषता को कलाकार का व्यक्तित्व कहते हैं। कलाकार का यह व्यक्तित्व अन्तर्मुखी रचनाओं में या गीति में पाठक के सीधे परिचय में आजाता है, जब कि बहिर्मुखी रचनाओं में कलाकार का व्यक्तित्व अन्तर्पट में रह कर कभी २ झाँई सी देता रहता है।

## जातीय साहित्य

जहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से परम्परागत जीवन व जातीय भावनाओं के क्रमिक विकास-ह्रास पर विचार कर के जीवन की गतिविधि का ब्यौरा उपस्थित किया जाता है वहां साहित्य को

हम 'जातीय साहित्य' की संज्ञा देते हैं। जातीय-साहित्य का कार्य है किसी देश व जाति विशेष के मानसिक जीवन के विकास का वृत्त उपस्थित करना। यही कारण है कि जातीय साहित्य किसी जाति विशेष के मस्तिष्क की उपज और उसके स्वभाव के उन्नतिशील तथा क्रमागत अभिव्यंजन का फल है। इसी आधार पर कह सकते हैं कि साहित्य किसी व्यक्ति या जाति के जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। उसमें व्यक्ति व जाति की भावनाएँ अमर होकर अपनी आभा दिखलाया करती हैं। यही कारण है, साहित्य हमें जातियों के आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक तथा सामाजिक विकास का ठीक-ठीक परिचय कराता है।

## युग-भावना या काल की प्रकृति और साहित्य

साधारणतः किसी काल विशेष के कलाकारों में एक युग-प्रभाव के रूप में गुण विशेष होता है। इसी सर्वसाधारण गत गुण विशेष का नाम 'युगधर्म' या काल की प्रकृति नाम दिया जाता है। हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन इसी युग-भावना के आधार पर किया गया है। युग-मनोवृत्ति में छन कर कविगण अपने समय के स्वयं आदर्श ( दर्पण ) बन जाते हैं।

## साहित्य का विकास

साहित्यकार जातिगत विशेषताओं से, कालगत विशेषताओं से वा स्थितिगत विशेषताओं से प्रभावित होकर साहित्य में भिन्नता उत्पन्न करता है। यह तो हुआ साधारण नियम, पर जो प्रतिभा सम्पन्न कलाकार होते हैं वे अभिनव एवं सर्वकालीन और सार्वदेशिक प्रकृति, स्थिति या काल-भावना का निर्माण कर जाते हैं।

## साहित्य और अन्य संसर्ग

साहित्य में विचारधाराओं का ही तो आदान-प्रदान होता है। यह आदान-प्रदान जब अन्य जाति के, अन्य सभ्यता व संस्कृति के संसर्ग से होता है तब साहित्य में नई नई भावनाएँ व अभिव्यञ्जना शैलियों का आविर्भाव होता रहता है। इस प्रकार का प्रभाव विजित जाति पर विजेता जाति का अधिक पड़ता है। हिन्दी-साहित्य की वर्त्तमान गतिविधि पर इसी नियम के अनुसार अंग्रेजी का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। हमारा गद्य साहित्य व वर्त्तमान कई भावनाएँ एवं शैलियाँ इसी अन्य संसर्ग वाले नियम की प्रमाण हैं।

---

# ३

## ( काव्य )

ऊपर कहा जाचुका है कि 'साहित्य' शब्द संस्कृत में केवल 'काव्य' ग्रन्थों के समुदाय का ही बोधक है। 'काव्य' के अन्तर्गत वे सब रचनाएँ आजाती हैं जिनमें काव्य या कवित्त्व के लक्षण पाये जाते हैं। गद्य वा पद्य की काव्य के लिए कोई पाबन्दी नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम वास्तव में 'काव्यालोचन सिद्धान्त' हो सकता है। इसमें काव्य और साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों का ही विवेचन है। जिसमें काव्य ( साहित्य ) के लक्षण-अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, रीति, रस, भाव, अलङ्कार वा गुण-दोषादि पर विचार किया जाता है, उसे 'साहित्य-शास्त्र' कहते हैं।

## (क) काव्य और मानव जीवन

काव्य में, चाहे गद्य-काव्य हो चाहे पद्य काव्य, प्रधानत: मानव-जीवन की अभिव्यक्ति होती है। काव्य का प्रधान कार्य है मानवजीवन का अभिव्यञ्जना, प्रदर्शन और उसके स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण। यह काव्य की आत्मा है। साहित्य का ठाट-बाट उसका शृङ्गार है, और भाषा उसका कलेवर।

## (ख) काव्य के दो पक्ष

### १ ( भावपक्ष )

विचारों के व्यक्त करने की शैली कला का रूप धारण करती है अत: कलाओं के अनुशीलन में स्वर‡, शब्द*, और रेखा※ की साधना आवश्यक है। काव्य-कला का विवेचना 'रस' के आधार पर किया जाता है। 'रस' काव्य का आत्मा माना गया है। 'रस' की निष्पत्ति विभाव अनुभाव संचारी भावों से होती है। इसी से काव्य को 'रसात्मक' माना है काव्य के गुण, और अलंकार इसके उत्कर्ष हैं। अलंकारों का कार्य है अनुभूति को तीव्र बनाना। भरत मुनि ने इस की परिभाषा करते हुए लिखा है—"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पति: " इस निष्पति शब्द को लेकर हमारे यहाँ भिन्न २ आचार्यों ने कई वाद बना डाले हैं, जिनका विवेचन यथास्थान आगे किया गया है।

नाटक में नट के द्वारा जो विभावानुभाव का स्वरूप सामने आता है, उसे दृष्टा सत्य के रूप में देखकर चमत्कृत हो उठता है। काव्य का यह विवेचन उसके भीतरी अङ्ग अर्थात् भावों से सम्बन्ध रखता है इसीसे इसे 'भावपक्ष' कहते हैं काव्य का

‡ संगीत, * काव्य, ※ चित्र।

आन्तरिक रूप भाव पर ही निर्भर होता है और बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्ग कला पर।

## २ ( कलापक्ष )

मनुष्य अपने भावों को जिस साधना से समाज तक पहुँचाता है वह है—भाषा। भाषा के अङ्ग—गुण, वृत्ति, रीति, छन्द आदि हैं। ये भाषा को आकर्षक वा भाव-वहन में पुष्ट बनाते हैं। इन्हीं के द्वारा काव्य का भावपक्ष व्यक्त होता है। अतः कला का यह दूसरा पक्ष भी परमावश्यक है। रस आत्मा है, और शैली 'कलापक्ष' काव्य का शरीर। शरीर बिना आत्मा का क्या मूल्य है? इसी कारण काव्य के 'कला' अङ्ग पर भी हमारे यहाँ पर्याप्त ध्यान दिया गया है। आचार्य केशव तो इसी पक्ष के समर्थक थे, पर केवल यही लेकर चलना मृतक को जगाना मात्र है। अतः काव्य में कलेवर सौन्दर्य के अतिरिक्त भाव या संस्कृत-विचारधारा की सुन्दरता की भी आवश्यकता है। जहाँ आत्मा या कलेवर दोनों का सौन्दर्य पूर्णतया निभता है वहीं काव्य का चरम विकास संभव होता है।

## (ग) काव्य और मनोवृत्ति

मनुष्य की वृत्तियों का विश्लेषण करके देखने से ज्ञात होता है कि काव्य-रचना के मूल में उसकी ( मनुष्य की ) चार वृत्तियाँ ही काम करती हैं। वे इस प्रकार हैं!—

१—आत्माभिव्यञ्जना की अभिलाषा।

## ( घ ) काव्य के विषय या आधार

काव्य के विषयों या आधारों को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है:—( १ ) स्वानुभूतिपरक, ( २ ) समष्ट्यानुभूतिपरक। समष्ट्यानुभूति परक का तात्पर्य है उन बातों से जिनका सम्बन्ध मनुष्य-समुदाय मात्र से हो। ( ३ ) मानव समाज और पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् सामाजिक जीवन और उसका व्यवहार क्षेत्र। ( ४ ) प्राकृतिक जगत्, और ( ५ ) मनुष्य और उसका कलात्मक दृष्टिकोण। इस प्रकार काव्य के भिन्न २ विषयों को आधार बनाकर कलाकार काव्य की सृष्टि करता है।

## ( ङ ) काव्य के अन्य दो भेद

काव्य के दो क्षेत्र हैं—प्रथम आपबीती को लेकर चलने वाले क्षेत्र का काव्य अर्थात् आत्मभिव्यञ्जना सम्बन्धी काव्य, और दूसरा परबीती या जगबीती के क्षेत्र का काव्य। दूसरे क्षेत्र के काव्य को वर्णनात्मक काव्य भी कहते हैं। जहाँ कवि अपनी मनोवृत्ति को बाहर के जगत् से मिलाकर व्यक्त करता है वहां वर्णनात्मक काव्य की सृष्टि होती है, और जहाँ वह संसार के बिम्ब को अपने चैतन्य कोष में बन्द कर के अपनी अनुभूति का व्यक्तिकरण करता है वहाँ आत्माभिव्यञ्जन सम्बन्धी काव्य का श्रीगणेश होता है। गीतिकाव्य इसी कोटि का काव्य है।

## ( च ) काव्य के उपादान

काव्य के उपादनों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है :— ( १ ) जीवन व्यापार के निरीक्षण द्वारा संचित वह सामग्री जो नाटक, उपन्यास, कविता, कहानी निबन्ध आदि का आधार होती है, और ( २ ) वह कौशल जिसका प्रयोग कवि या कलाकार उस सामग्री को काव्य-कला का रूप देने में करता है। यह

दूसरा उपादान चार मूलतत्त्वों पर अवलम्बित रहता है :—

१ बुद्धितत्त्व
२ रागतत्त्व
३ कल्याणतत्त्व और
४ अलङ्कार या शैली

बुद्धितत्त्व का प्रयोग कवि अपने विषय-प्रतिपादन में करता है। रागतत्त्व वह तत्त्व है जो काव्य-विषय के द्वारा स्वतः ही कवि के हृदय में उद्भासित होकर अभिव्यञ्जित हुआ करता है। तीसरे कल्पनातत्त्व के द्वारा काव्य-विषय का चित्राङ्कन होता है। कल्पना के द्वारा कवि पाठकों की चक्षु के सम्मुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करता है जैसा वह अपने मन में उसका अङ्कन किये रहता है। इस तत्त्व का काव्य को सौंदर्य प्रदान करने में बहुत बड़ा हाथ है। ( ४ ) अलङ्कार के सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ विद्वान् अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म मानते हैं, और कुछ आवश्यक उपादान। हमारा अपना मत या निर्णय इस विषय से इतना ही है कि यदि अलंकार केवल भावभिव्यंजन की शैली विशेष है तब तो वे काव्य के आवश्यक उपादान की कोटि में आते हैं और यदि अलङ्कार केवल ऊपर ऊपर की शोभा बढ़ाने का साधन हैं तो अनिवार्य तत्त्व के रूप में उनका ग्रहण अनावश्यक है ही। यद्यपि अलंकार ( आभूषण ) की स्वाभाविक सुन्दरता के लिये आवश्यकता नहीं, तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आभूषण साधारण सौंदर्य को असाधारण अवश्य बना सकते हैं। ऐसी दशा में चमत्कार की मात्रा बढ़ाने के कारण अलंकार आभूषण मात्र न रह कर शैली विशेष का कार्य करने से काव्य के आवश्यक अङ्ग बन जाते हैं।

## काव्य और व्यक्तित्व

सर मैथ्यू आर्नल्ड के कथनानुसार कवि की मानसिक कल्पना के अनुकूल जीवन की व्याख्या ही काव्य है। एक फ्रेंच विद्वान् का कथन है कि—'काव्य जीवन का वह चित्र है जो किसी की प्रकृति का आश्रय लेने से ही अनुभूति का विषय बन सकता है। किसी कृति को पढ़ कर हम उस कृतिकार के विचारों भावों, अनुभवों एवं संस्कारों से दृढ संसर्ग स्थापित कर लेते हैं। इसका कारण यही है कि कवि हृदय उसकी कृति में पाठक के समक्ष उसी प्रकार झलका करता है जिस प्रकार साफ दर्पण में द्रष्टा का प्रतिबिम्ब। इसका यही निष्कर्ष है कि काव्य में कवि का अपना व्यक्तित्व सदा विद्यमान रहता है।

## (छ) काव्य—पद्य और गद्य

ऊपर कहा जा चुका है कि 'कवित्व' के लक्षण जिसमें रहें वही काव्य है, चाहे पद्य में हों या गद्य में। यहाँ हम केवल पद्य अर्थात कविता का विवेचन ही करेंगे, गद्य काव्य की रूपरेखा पर अगले पृष्ठों में स्वतन्त्र प्रकाश डाला जायगा।

## (ग) *कविता और †छन्द

काव्य में दो बातें मुख्य हैं-- १) विषय और (२) उसके प्रतिपादन की रीति। प्रतिपादन की रीति को हम रूप सौष्ठव भी कह सकते हैं। रूपसौष्ठव का मानव हृदय पर बड़ा गहरा

* कवित्व या काव्य के लक्षण। धीरे २ यह शब्द पद्यमय काव्य का ही पर्याय बन गया है। जहाँ इस पुस्तक में 'कविता' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पद्य' के अर्थ में ही समझना चाहिये।

† छन्द संगीतमय होता है अतः कविता की मधुरता को तीव्र कर देता है।

प्रभाव पड़ता है। छन्द कविता कारूपसौष्ठव मात्र है। कविता काव्य के लक्षणों सहित छन्द या पद्य में रहती है। पद्य का काव्य में रहना आवश्यक नहीं, काव्य के तत्त्वों का पद्य में रहना अनिवार्य है, यदि तों हम उससे समाज पर कुछ प्रभाव डालना चाहते हैं। छन्द या पद्य कविता का एक गुण है जो उसे रूपसौष्ठव के कारण आकर्षक बना देता है।

## (झ) कविता की परिभाषाएँ

कविता की परिभाषाएं आदि काल से होती आ रही हैं, और अनन्त काल तक होती रहेंगीं। पश्चिम और पूर्व दोनों ही क्षेत्रों में इस विषय पर पर्याप्त विचार हुए हैं। पण्डित जानसन कविता को 'पद्यमय निबन्ध कहते हैं।' मिल्टन महोदय कहते हैं– "कविता वह कला है जिसमें कल्पना शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनन्द का परस्पर सम्मिश्रण करती है।" श्री कारलायल महोदय का कहना है कि 'कविता संगीतमय विचार है' श्री रस्किन इसी विषय में कहते हैं--"कविता कल्पनाशक्ति द्वारा उदात्त वृत्तियों के श्रेष्ठ आलम्बनों की व्यञ्जना है।" श्री कारथाय का कथन है कि "कविता वह कला है जो संगीत मय भाषा में काल्पनिक विचारों और भावों की यथार्थ व्यञ्जना से आनन्द का उद्रेक करती है।" इसी प्रकार श्री वाट्सडण्डन कविता के विषय में यों कहते हैं "कि कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव=अन्तःकरण की मूर्त्त और कलात्मक व्यञ्जना है।" भारतीय आचार्यों की उपरोक्त परिभाषाएं, इन सभी परिभाषाओं से अधिक पूर्ण एवं संगत हैं। भारतीय आचार्यों ने 'रसात्मक वाक्य' को या रमणीयार्थ प्रतिपादक' वाक्य को काव्य माना है। इन परिभाषाओं में आपस में कोई

विशेष अन्तर नहीं है। साथ ही पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा की हुई सभी परिभाषाओं से ये दोनों परिभाषाएँ संगत व वैज्ञानिक भी हैं, एवं किसी हद तक पश्चिमी विद्वानों के द्वारा की गई उपरोक्त सारी परिभाषाओं का भी इनमें अन्तर्भाव सा ही हो जाता है। उपरोक्त पाश्चात्य परिभाषाओं में लगभग सभी में 'आनन्द' का उद्रेक करना कविता का कार्य सभी ने माना है कि जो हमारे यहाँ 'रसात्मकता' का ही दूसरा नाम है। बल्कि हमारे आचार्यों ने तो "रसोवैसः" तक कह डाला है। रस का स्वरूप ही परमानन्दमय है। यही तो कारण है इसानन्द को परमानन्द सहोदर कहा है।

उपर्युक्त पूर्व व पश्चिम दोनों क्षेत्रों की काव्य-परिभाषाओं के निचोड़ स्वरूप में कहा जा सकता है कि कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि से हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृति और निवृत्ति के मूल में रहने वाली अन्तःकरण की वृत्ति से है। यह वृत्ति उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्रकट हुई, और मनुष्य जाति आदिकाल से जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्यया ऐक्य का अनुभव करती चली आई है।

'कविता' इन्हीं रागात्मिका या वेगमयी वृत्तियों का सृष्टि के साथ यथार्थ सामंजस्य स्थापित करके मानव-जीवन को शास्वतता और व्यापकत्त्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है।

यदि इन मनोवृत्तियों को मनुष्य अपने अन्तःकरण में समेट कर रागात्मक तत्त्व को सृष्टि से किनारे करले तो वह जड़ के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जायगा।

## महाकवि का दायित्व

जैसे-जैसे मनुष्य का निसर्ग सिद्ध स्वरूप दबता गया और जीवन में जटिलता एवं सघनता आती गई, उसका व्यापार-क्षेत्र बढ़ता गया और वह स्वाभाविक से अस्वाभाविक बनता चला गया। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के व्यापारों के मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई। वासना का स्थान बुद्धि लेती गई, और कविता का स्वरूप धीरे-धीरे सभ्यता के आवरण में छिपता चला गया। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए नए आवरण चढ़ते जायँगे एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, और दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा; क्योंकि कविता की निसर्ग सिद्ध मनोवृत्ति दबती-दबती क्षीण होती जायगी। ऐसी स्थितियों में समाज को महाकवि गण ही संभालते आये हैं, और आगे भी संभालेंगे।

ऐसा चित्र उपस्थित करता है जो मन पर प्रभाव डाले। इस सारे क्रिया-कलाप को सुशृङ्खलित करने वाला साधन ही कल्पना है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष ही भावयोग भी है। भावयोग का आधार जो कोई भी तत्व हो सकता है उसी का नाम कल्पना है। 'उपासना' भावयोग का ही एक अङ्ग है। उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। ध्यान में किसी दूरस्थ वस्तु, व्यक्ति या अन्य तत्त्व की मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। इसी को काव्य या साहित्य के क्षेत्र में पहिले के लोग भावना और आजकल के कल्पना कहते हैं। यह कल्पना दो प्रकार की होती है—( १ ) विधायक और ( २ ) ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना की की आवश्यकता है और श्रोता या पाठक में ग्राहक कल्पना की। कवि का कार्य है किसी भी वर्ण्य विषय का चित्र उपस्थित करना और श्रोता या पाठक का काम है उस चित्र का यथावत ग्रहण करना, और यदि उसमें कहीं कवि की ओर से कोई कमी रह गई हो तो अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करके पूर्ण कर लेगा। यूरोपीय साहित्य में कल्पना को अनिवार्य साधन मान कर बहुत महत्त्व दिया गया है।

## कविता के विभाग

मुख्य रूप से कविता के दो भाग हैं:—(१) आत्माभिव्यंजन सम्बन्धी और (२) बाह्य-विषयात्मक। प्रथम भाग की कविता का सम्बन्ध कवि के व्यक्ति से अधिक है, और दूसरे विभाग की कविता का सांसारिक भावों और कार्यों से। इसके अतिरिक्त कविता अथवा काव्य के और भी भेद होते हैं। ये भेद संलग्न तालिका से संक्षेप में स्पष्ट हो जाते हैं:—

## कविता की आवश्यकता

कविता मनुष्य का स्वभाव है। सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी न किसी रूप में यह पाई जाती है। इतिहास, दर्शन, विज्ञान चाहे किसी जाति के पास न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य मिलेगा। कारण यही है कि कविता मानव-स्वभाव है। मनुष्य संसार में जब अपना जटिल व सघन सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो वह अपने को भूल-सा जाता है। इसलिये समय-समय पर मनुष्य की भूल अन्तः प्रवृत्तियों को जगाते रहने के लिये कविता की परमावश्यकता है। कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। हाँ, पशु-समाज को इसकी आवश्यकता नहीं।
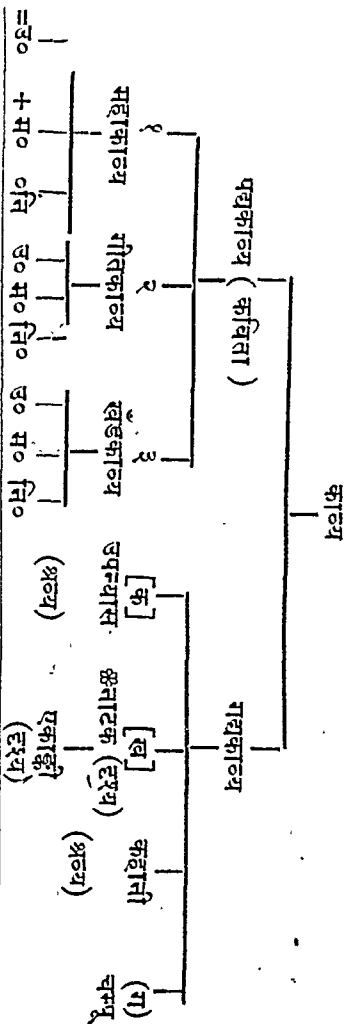
( १ ) यथा —रामायण, महाभारत या अँग्रेज़ कवि मिल्टन का पैरेडाइज़ लास्ट आदि।
( २ ) यथा—महादेवी, पन्त, निराला आदि की रचनाएँ या यूरोपीय कवि शैली के गीत।
( ३ ) यथा—'वैदेही बनवास' वनवैभव' 'पंचवटी' 'कल्याणी कृष्णा' 'जयद्रथवध' आदि।
( क ) जिसका आनन्द पढ़कर या सुनकर लिया जाय। ( ख ) जो मंच पर अभिनय के रूप में देखा जाय। ( ग ) जिसमें गद्य-पद्य मिश्रित शैली का प्रयोग हो।

* इनके उदाहरण काव्यग्रन्थों में देखिये।

= नाटक का दूसरा नाम रूपक भी है, 'रूपारोपात्तुरूपकं।'

\+ गद्य काव्य पर अगले पृष्ठों में प्रकाश डाला गया है।

## ( ४ )

# गद्य काव्य का विवेचन

## ( उपन्यास और नाटक )

उपन्यास और नाटक का भेद काव्य और दृश्य काव्य का भेद है। उपन्यास श्रव्य काव्य है, और नाटक दृश्य। नाटक का रूप रंगशाला के प्रतिबन्धों से बहुत कुछ नियंत्रित रहता है। नाटक चित्र, संगीत और काव्य तीन ललित कलाओं का समिश्रण है। नाटक के लिए कहा है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' इसका कारण यह है कि नाटक मानव-मस्तिष्क की चित्र या बिम्ब निर्माण-क्रिया को विराम देता है, इससे मानव-मस्तिष्क चक्षु-ग्राह्य बिम्बों के आधार पर रसास्वादन अधिक मात्रा में कर सकता है। यह बात श्रव्य काव्य में संभव नहीं। श्रव्य काव्य में मानव-मस्तिष्क को स्वयं बिम्ब या चित्र निर्माण का कार्य कल्पनापट पर करते चलना पड़ता है, इस क्रिया से उसके रसास्वादन के कार्य में व्याघात पहुँचता है। इसके विपरीत उपन्यास का क्षेत्र स्वतंत्र है। लेखक अपने क्षेत्र का यहाँ राजा है—नाटक में नहीं।

### (क) उपन्यास व नाटक का अन्तर

उपन्यास——

१ उपन्यास रंगमंच के नियमों से मुक्त है।

२ उपन्यास का मंत्र उपन्यास में रहता है।

३ उपन्यास समय की सीमा से मुक्त होता है।
४ उपन्यास वर्तमान को भूत करता है।
५ उपन्यास में वह सजीवता नहीं जो नाटक में होती है।
६ उपन्यास काव्य का सरल रूप है !
७ उपन्यास कार को अपने पात्रों की ओर से बोलने का पूर्ण अधिकार होता है।
८ उपन्यास विवेचन प्रधान है।
९ उपन्यास में धैर्य की आवश्यकता है।

नाटक——

१ नाटक मंच के प्रति बन्धों से युक्त है।
२ नाटक का मंच नाटक से भिन्न।
३ नाटक में समय की सीमा आवश्यक है।
४ नाटक भूत को वर्त्तमान करता है।
५ नाटक में दृश्य काव्य होने से सजीवता तथा प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है।
६ नाटक काव्य का कठिन रूप है।
७-नाटक कार अपने पात्रों से ही अपनी बात कहलाने का अधिकार रखता है, स्वयं कुछ नहीं कह सकता।
८-नाटक अभिनय प्रधान।
९-नाटक में रंगमंच के नियमों की जानकारी आवश्यक है।

## (ख) उपन्यास

### ( उपन्यास के तत्त्व )

उपन्यास के मुख्यरूप से ६ तत्त्व हैं:—

(१) वस्तु-कहानी का नाम है। जो घटनाओं या व्यापारों के रूप में सम्पादित की जाय वही वस्तु है।

(२) पात्र-जो घटना या व्यापार की शृंखलाओं को स्थिर रख

कर वस्तु को वहन करते हैं वे पात्र कहलाते हैं।

(३) कथोपकथन–पात्रों का संवाद ही कथोपकथन है। चरित्र चित्रण और संवाद का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। संवाद में पात्र का स्वभाव, आदर्श सिद्धान्त आदि का परिचय मिलता है।

(४) देशकाल—वह स्थान या समय देश-काल कहलाता है जिसमें व्यापार या घटनाएँ घटित होती हैं। और जो पात्रों के विचरण का आधार होता है।

(५) शैली--भाव व्यंजन और वर्णन के ढङ्ग का नाम शैली है।

(६) उद्देश्य--जीवन सम्बन्धी विचार जिन्हें कवि या कलाकार प्रकट करना चाहता है, उद्देश्य नाम से प्रसिद्ध हैं।

## वस्तु

संसार में मनुष्य मात्र एक ही प्रकार के रागों, भावों, विचारों आदि से प्रेरित होता है, चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो। जब लेखक की कल्पना शक्ति अनुभव का सहारा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, तब उसे अवश्य ही पूरी-पूरी सफलता प्राप्त होती है। उपन्यास की महत्ता अधिकतर वस्तु पर ही निर्भर रहती है। लेखक को मानवजीवन के रहस्यों से भली भाँति परिचित होने के साथ अभिव्यक्ति में भी निष्कपटता का व्यवहार करना चाहिए। यदि उपन्यास की कथा आकर्षक न हुई, और भले प्रकार से न कही गई तो उपन्यास अपने उद्देश्यों में सफल नहीं कहा जा सकता। जिस कथावस्तु से निम्नाङ्कित प्रश्नों के उत्तर यथोचित मिल सकें उसे सफल वस्तु कह सकते हैं। वे प्रश्न ये हैं:—

चीनता है। ऐसा तो नहीं कि किसी घटना के वर्णन में कई पृष्ठ रंगे हों, और जिसका कथा वस्तु से कोई स्पष्ट सम्बन्ध न देख पड़ता हो, ऐसी बातों का समावेश कर दिया गया हो अथवा किसी पात्र का कथन या भूमिका बहुत लम्बी-चौड़ी कर दी गई हो, और कुछ आगे बढ़ते ही भूमिका बहुत ही तुच्छ या सामान्य हो जाती हो?

( ३ ) क्या उसमें वर्णित घटनाएं आपसे आप अपने मूल आधार से या एक दूसरी से निकलती चली आती हैं?

( ४ ) क्या साधारण से साधारण बात को लेखक की लेखनी ने असाधारण बनाने में सफलता पाई है?

( ५ ) क्या घटना-क्रम ऐसा रखा गया है जिससे वह अलौकिक, असंगत, और अस्वाभाविक न जान पड़े? चाहे वे घटनाएं कितनी ही असाधारण क्यों न हों?

( ६ ) क्या वस्तु का अन्त वर्णित घटनाओं के अनुकूल है, और उसका पूर्वापर सम्बन्ध तो नहीं बिगड़ा है?

( ७ ) उसमें सुगमता, स्वाभाविकता, और मनोमुग्धकारिता की तो कमी नहीं है।

( ८ ) शैली में शैथिल्य तो नहीं, या कौशल तो है?

## वस्तु विन्यास के आधार पर उपन्यास के भेद

उपन्यास का लेखन कई प्रकार से होता है। संक्षेप में उपन्यास लेखन के प्रकारों को ३ भागों में बाँटा जा सकता है:—

( १ ) इतिहासकार की भाँति

( २ ) नायक के मुख से आत्मचरित्र-कथन की शैली में और

( ३ ) चिट्ठी-पत्री द्वारा कथा का उद्घाटन करा के।

प्रथम ढंग से उपन्यास का आरंभ करके लेखक अपना पूरा कौशल दिखा सकता है। शेष ढंगों में कुछ कठिनाई होती है।

तीसरा ढंग बहुत कम प्रयोग में आता है। जासूसी उपन्यासों में तीसरे ढंग के प्रयोग की अधिक गुंजाइश हो सकती है।

## पात्र

पात्रों पर अलौकिकता थोपना, उपन्यास को इस लोक के क्षेत्र से निकाल कर दूर फैंक देने के समान है। पात्र, पाठक के लोक के, उसी की जैसी मनोवृत्ति वाले होने चाहिये, अर्थात उनकी सामाजिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ अति-मानवीय नहीं होनी चाहिये अन्यथा साधारणीकरण न होने से वे हमारे जीवन से दूर हो जायंगे और तब हमें उपन्यास में कोई आकर्षण न रह जायगा। हम में अर्थात पाठक में विभावन की तीव्रता या उत्कर्ष और कल्याण की यथार्थकारिता की शक्ति है, हम उसी से प्रेरित होकर कल्पित पात्रों को भी वास्तविकता का रूप दे देते हैं।

उपन्यास का पात्र सदा नियंत्रण में न रहने के कारण लेखक के वश में नहीं रहता। किसी ने लिखा है—"मैं अपने पात्रों का अनुशासन नहीं कर सकता, और वे मुझे जहाँ चाहते हैं ले जाते हैं।" ऐसे स्वतन्त्र संकल्प वाले पात्र अपने मनोवेगों से प्रेरित होकर काम करते हैं, और कभी २ उनके कथन या कार्य ऐसे हो जाते हैं, जिनका लेखक को कभी अनुमान भी नहीं होता। यहां हम कल्पना शक्ति की पराकाष्ठा को देखते हैं, और उसके रहस्य का उद्घाटन करना लेखक या समालोचक दोनों को असंभव है। सृष्टि-वैचित्र्य का सिद्धान्त ही इस मानसिक कल्याण में अन्तर्गभित जान पड़ता है।

सफल चरित्र-चित्रण के लिये सजीव-वर्णन की शक्ति की भी आवश्यकता होती है। उपन्यास में चरित्र-चित्रण ही एक ऐसा तत्त्व है जो नाटक की अपेक्षा अधिक कठिन है। नाटक में जो

कार्य अभिनय, वेशभूषा, संवाद, रंग ढंग, रूप सज्जा तथा नाटक के कौशल से सम्पन्न हो जाता है, उपन्यास में वही कार्य उपन्यासकार को अपने वर्णन-कौशल से लेना पड़ता है।

## चरित्र-चित्रण के प्रकार

चरित्र वर्णन के प्राय: दो ही प्रकार प्रचलित हैं :— (१) विश्लेषणात्मक या साक्षात प्रकार, और (२) अभिनयात्मक या परोक्ष प्रकार। प्रथम प्रकार के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार पात्रों के भीतर घुसकर उनके भावों, विचारों, प्रकृतियों और राग-द्वेषों को समझता, उनकी व्याख्या करता, उनके कारण बताता और प्राय: उन पर अपना विवेचनात्मक मत भी प्रकट करता है। दूसरी अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण-शैली में लेखक को अलग रह कर केवल संवाद-व्यापार से ही काम लेना पड़ता है।

## वस्तु और पात्र का नाता

उपन्यास साधारणतया दो प्रकार के होते हैं :— (१) वे उपन्यास जिनमें पात्र प्रधान, व्यापार-शृंखला या घटनाएं गौण हों और (२) वे उपन्यास जिनमें व्यापार-शृंखला का प्राधान्य हो। जिन उपन्यासों में पात्रों का प्राधान्य हो वे उपन्यास उत्तम कोटि के होते हैं, क्योंकि घटनाओं का प्रभाव तो पाठक पर स्थायी नहीं रहता, यदि उपन्यास घटना प्रधान होगा तो थोड़ा सा कौतूहल तत्त्व उत्तेजित अवश्य करेगा उसका जीवन-तत्त्व से कोई गहरा लगाव शेष नहीं रह जायगा। उधर पात्र-प्रधान रचना में चरित्र का प्रभाव अधिक होने से पाठक पर स्थायी लाभ अंकन हो सकना संभव है। इससे सिद्ध होता है, चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास अधिक उत्तम होते हैं घटना प्रधान उपन्यासों से।

यदि वस्तु और पात्र इन तत्त्वों की छानबीन की जाय तो

पता चलेगा कि वस्तु और पात्र में परस्पर कुछ न कुछ विरोध अवश्य रहता है। जहाँ वस्तु का ध्यान अधिक रखा जाता है, पात्र के चरित्र चित्रण में दोष आना स्वाभाविक समझ लेना चाहिये, और चरित्र-चित्रण की ओर लक्ष्य रखने से व्यापार-श्रृंखला के विश्रृंखलित होने का डर निर्मूल नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि कुशल कलाकार दोनों ही तत्त्वों का सामञ्जस्य निर्वाह करने की ओर लक्ष्य रखता है।

कलाकार का कर्त्तव्य है कि घटने वाली घटनाओं का सन्तोषजनक कारण बिना माँगे ही पाठक को देता या बतलाता चले, और पात्रों को अपनी-अपनी भूमिका के द्वारा क्रमशः विकास देता हुआ यह अवश्य देखता चले कि जिन राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों का पात्र में समावेश या उद्भासन किया गया है वे सब असंगत, अस्वाभाविक एवं पाठक मण्डल के मानस-विलास के बाहर की तो नहीं हैं, और उनका प्रभाव जैसा लोक में हुआ करता है उसके विपरीत तो नहीं होता ?

## संवाद ( कथोपकथन )

कथोपकथन कथावस्तु के आकर्षण को बढ़ाकर पात्रों में चैतन्यता भर देता है। पाठक और पात्र के बीच का सम्बन्ध कथोपकथन ( संवादों ) पर ही निर्भर रहता है। कथोपकथन पात्र के हृदय की तस्वीर है। इसी के बल पर पात्रों का परिचय मिलता है। संवाद, लेखक के कौशल की कसौटी है। कुशल लेखक अभिनयात्मक ढंग से संवादों की योजना कर के चरित्रों की व्याख्या, और विश्लेषण के द्वारा पाठक के मन पर अपने उद्देश्य का स्थायी प्रभाव जमाने में पूर्ण सफल उतर सकता है तो केवल संवाद-लेखन के कौशल पर ही।

संवाद का प्रथम उद्देश्य है वस्तु-विकास। इसीलिये संवाद

स्वाभाविक, उपयुक्त, विषयानुकूल, नपे तुले सरस एवं सुबोध होने चाहिये।

## उपन्यास और रस

चाहे किसी प्रकार का काव्य क्यों न हो, सबका उद्देश्य यही होता है कि पाठकों के भिन्न २ मनोवेगों को उत्तेजना प्रदान करें। पाठकों में अलौकिक आनन्द का प्रस्फुरण करे। इसी उत्तेजित मनोवेग को या अलौकिक आनन्द के प्रस्फुरण करे। इसी उत्तेजित मनोवेग को या अलौकिक आनन्द का प्रस्फुरण का नाम साहित्य-शास्त्र में 'रस' है। उपन्यासों में भी इस रस के संचार की परमावश्यकता होती है। यदि किसी उपन्यास में उपरोक्त ६ तत्त्वों का सफलता पूर्वक निर्वाह किया जा सकता है तो 'रस' का भी उस उपन्यास के द्वारा प्रस्फुरण होना अनिवार्य ही समझना चाहिये।

उपन्यास में रस-परिपाक तभी होता है जब कि कथावस्तु को अनावश्यक परिहास, अश्लीलता एवं अस्वाभाविक उत्तेजना आदि दुर्गुणों से सर्वथा बचाया जाय।

## देश–काल

उपन्यास का देशकाल से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। देशकाल ही वह तत्त्व है जो उपन्यास में वर्णित आचार-विचार रीति-रिवाज, रहन-सहन और परिस्थिति आदि के संयोग से वातावरण को परिपक्वता प्रदान कर के रस परिपाक का अवसर उपस्थित करता है। देशकाल विरुद्ध कथावस्तु निष्प्राण व अनाकर्षक होने से उपन्यास के उद्देश्य से बहुत दूर जा पड़ती है। देश-काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—(क) सामाजिक और (ख) ऐहिक या साँसारिक। जिस काल का उपन्यास लिखा जाय उस काल के व्यवहार, विचार, भाव,

बना देता है। शक्ति के साहित्य का यही जादू है जिसे विद्वानों ने सदा स्वीकार किया है, करते हैं, और करते रहेंगे।

## उपन्यास और वास्तविकता

उपन्यास की सत्यता उसकी वास्तविकता और सम्भावना से सम्बन्ध होती है। जो बात संभव हो अथवा जो नित्य किसी न किसी रूप में लोक-सत्य में वर्त्तमान हो, उसी को उपन्यास में स्थान मिलना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं। कल्पना और वास्तविकता दोनों का मिश्रण ही शक्ति के साहित्य का सृजन करता है। उपन्यास की ‡ बातें या घटनाएं वास्तविक इस कारण हैं कि वे नित्य लोक-जीवन की हैं, और कल्पित इसलिये हैं कि उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। यही कारण है कि शक्ति का साहित्य सत्य-असत्य की सत्ता का द्योतक होता है। जिसे हम झूँठ कहते हैं वह भी वास्तव में है न, यदि न हो तो फिर हम उसे व्यक्त कैसे कर सकते हैं। असत्य में सत्य की मात्रा खोज निकालने वाला साधन ही काव्य या साहित्य है। यह साहित्य की एक भी नई, किन्तु, बहुत पुरानी और अकाट्य परिभाषा है। नई हमने इसे इस कारण कहा कि इस शब्दावली में इसका पारिभाषिक प्रयोग नहीं देखा गया, किन्तु काव्य की जितनी भी परिभाषाएं अब तक चल रही है, सब एक प्रकार से इसी परिभाषा पर अवलम्बित हैं।

‡Shere in nothing new in history except name & date & thre is nothing wrong in novelexe name & date.

## उपन्यास में नीति

भावों और विचारों में परिमार्जन के लिये नीति के सहारे की आवश्यकता है, किन्तु, कलाकार की कुशलता इसी में है कि उसे आगे विषय के साथ इस तरह मिलादे जैसे दूध में चीनी। यदि नीति विषय से ऊपर निकल जाती है तो काव्य जीवन का बिम्ब न रह कर केवल गुरुमुख से प्राप्त उपदेश मात्र रह जाता है।

## उपन्यास के प्रकार

वैसे तो उपन्यास 'कथा-साहित्य' ही है, और मानव-जीवन की वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है। यह उपन्यास की अपनी एक विशेषता है कि वह बाह्य-सत्य की चिन्ता न कर काल्पनिक कथा का निर्माण करके उसमें वास्तविक जीवन का सत्य निहित करदेता है। उपन्यास को हम निम्न कोटियों या प्रकारों में बाँट सकते हैं:—

१—घटना प्रधान
२—कौतूहल प्रधान
३—भाव प्रधान
४—सामाजिक. देशकाल सापेक्ष और देशकाल निरपेक्ष

---

(४) सामाजिक उपन्यास के दो वर्ग हैं—(क) देशकाल सापेक्ष और (ख) देशकाल निरपेक्ष। जहाँ देश और काल दोनों ही समानरूप से ध्यान में रहें या दोनों ही समान रूप से विस्मृत कर दिये जाँय। जहाँ देशकाल दोनों ही का ध्यान रखा जाता है उपन्यास का चित्र जंगम सा, जीवित-सा सामने नाचने लगता है। जहाँ इन दोनों को भुला दिया जाता है वहाँ उपन्यास का आरम्भ 'एक वार एक बड़े नगर में' ऐसा कहकर किया जाता

५-ऐतिहासिक
६-अन्तरङ्ग जीवन सम्बन्धी

(१) घटनाप्रधान उपन्यास सबसे सरल एवं निम्नकोटि का होता है। इसमें घटनाओं का तांता बँधा रहता है। लगभग इसी श्रेणी में संख्या (२) कौतूहलप्रधान उपन्यास भी आता है। कौतूहल तत्त्व उपन्यास के लिए आवश्यक तो अवश्य है, किन्तु इसकी अधिकता जीवनतत्त्व और उसकी वास्तविकता को दबा देती है इसीसे इसे उपन्यास का ऐब भी मानलिया गया है। (३) भाव प्रधान उपन्यास जीवन का सच्चे रूप में विश्लेषण करने के कारण उच्चकोटि का उपन्यास होता है यदि उसमें दार्शनिकता लाकर उसे जीवन-सत्य से दूर न कर दिया जाय। (४) सामाजिक उपन्यास विरलता की भूमि से खिचकर सामूहिक जीवन-क्षेत्र में सीमित होजाता है। सामाजिक उपन्यास के पात्र और उनकी परिस्थितियों का आपसी संघर्ष ही पाठक के मनोरंजन का विषय होता है। इनमें परिस्थितियों की ही योजना अधिक रहती है।ऐसे उपन्यास अधिकतर लेखक के समकालीन समाज के ही चित्र होते हैं। (५) ऐतिहासिक उपन्यास में परिस्थितियों का उद्भासन लेखक की कल्पना का विषय नहीं रहता बल्कि ऐतिहासिक घटना-क्रम उनका आधार बनजाता है। इस वर्ग के उपन्यास में कलाकार को थोड़ा सा बँधजाना पड़ता है, किन्तु कुशल कलाकार ऐतिहासिक उपन्यास के सहारे जीवन-सत्य को जितना रोचक बनाकर उपस्थित कर सकता है उतना

---

है। ये दोनों ही 'सामाजिक उपन्यास' के अन्तर्गत आजाते हैं। इसीसे हमने इन्हें अलग वर्ग में न रखकर सामाजिक उपन्यास के क्षेत्र में उप वर्ग बनाकर रख दिया है।

उसी अन्य प्रकार के उपन्यास के आधार पर नहीं। (६)अन्तरङ्ग जीवन के उपन्यास संकुचित प्रादेशिक सीमा में पात्रों के व्यक्तिगत सुख-दुखः से रंजित एक स्मृतिपटलमात्र बना देने के साधन होते हैं। काल के प्रवाह में पड़े हुए पात्र का चित्र अंकित करते हुए ऐसे उपन्यास मानवजीवन का निसर्गसिद्ध रूप दिखाया करते हैं।

## (ग)—आख्यायिका

आज का युग कार्य-संकुल युग है। मनोविनोद की आवश्यकता भी निसर्गसिद्ध आवश्यकता है। मनुष्य कार्य भी करना चाहता है और मनोविनोद भी। इसलिए युग प्रवृत्ति ने मनोविनोद के नये-नये, किन्तु, अल्प समय में पूरे होने वाले, कई साधन निकाल लिये हैं।

जबसे मनोविनोद ने मानव-स्वभाव में स्थान पाया है, एक तरह से तो, कहानी या आख्यायिका का भी जन्म तभी से मानना चाहिए। मनुष्य स्वयं एक कहानी है, कहानी से उसे इसी कारण बुद्धि के विकास के साथ २ राग भी उत्पन्न होजाता है, परन्तु आख्यायिका का आधुनिक रूप कुछ लोग कहते हैं बंगालियों की 'गल्प' का अनुकरण है। इसीसे कहानी का पर्याय भी 'गल्प' को मान बैठे है।

हमारा अपना निजी विचार है, कि कहानी का अपना एक स्वतंत्र स्थान सदा से रहा है—चाहे रूपों में परिवर्तन होता रहे, कहानी रहेगी सदा ही। यह कहानी जब विस्तार लेती है जीवन के समूचे क्षेत्र तक फैलकर 'उपन्यास' कहलाने लगती है, और जब उपन्यास संकोच करलेता है तब जीवन के किसी एक क्षेत्र में आकर आख्यायिका कहलाने लगता है। इस संकोच-विस्तार की

क्रिया के साथ २ इनके आकार-प्रकार वा तत्वों एवं उद्देश्यों में भी मानुपातिक अन्तर पड़ जाता है।

कुछ लोगों का विचार है कि आख्यायिका के प्रचार से उपन्यास सम्भवतः लुप्त हो जायँगे, किन्तु, ऐसे लोगों को सोचे रहना चाहिए कि जब तक जीवन की जटिलताएँ रहेंगी, और जब तक लोगों को रहस्योद्घाटन में अभिरुचि रहेगी तब तक उपन्यासों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकेंगी, और उपन्यास की आवश्यकता बराबर बनी रहेगी। आख्यायिका तो थोड़े समय में पर्याप्त मनोरंजन और शिक्षा देने का तथा जीवन के एकाङ्गी चित्रण का साधन होने से लोकप्रिय होगई है, बाकी उपन्यास का कार्य आख्यायिका पूरा नहीं कर सकती।

## आख्यायिका की परिभाषा और रूप

आख्यायिका वह गद्य कथानक है जो थोड़े अवकाश में समाप्त किया जासके। उपन्यास तथा आख्यायिका में विस्तार, उद्देश्य तथा वस्तु विन्यासादि का अन्तर होता है। मुख्यरूप से आख्यायिका लक्ष्य प्रधान होती है और उपन्यास वर्णन प्रधान।

## आख्यायिका के रचना-सिद्धान्त

आख्यायिका का उद्देश्य एवं आधार भूत सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए जिसका विकास, और निर्वाह उसकी संकुचित सीमा में भले प्रकार होसके। आख्यायिका की उत्तमता उसके विषय तथा प्रतिपादन-शैली पर ही निर्भर रहती है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसके उद्देश्य, साधन और परिणाम आदि में सामञ्जस्य होना चाहिए। यदि किसी आख्यायिका के उद्देश्य और परिणाम दोनों बिल्कुल एक हों, तो समझ लेना चाहिए कि वह सफल है, परन्तु, यह कार्य है बहुत कठिन।

कुशल कथाकार ही की लेखनी इस उद्देश्य-परिणाम-सामञ्जस्य में सफल हो सकती है।

## उद्देश्य और लक्ष्य

उद्देश्य अनेक हो सकते हैं। चाहें तो पहिले आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित कर लें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि लाकर उसमें आरोपित करें। अथवा तो चरित्र चुनकर उसके अनुरूप वस्तु विन्यास करें। अथवा मन में विचार या सिद्धान्त स्थिर कर उसके अनुरूप वस्तुविन्यास और चरित्र चित्रण करें। इनमें से कोई सा भी प्रकार अपनाया जा सकता है, क्योंकि ऐसा किये बिना कहानी का उद्देश्य या लक्ष्य निश्चित नहीं हो पाता।

## आख्यायिका और कथोपकथन

किसी आख्यायिका के लिये कथोपकथन का बहुत बड़ा महत्त्व है। आख्यायिका के छोटे घेरे में प्रभावशालिता लाने के लिये कथोपकथन की नाटकीय या अर्थ-शबल शैली का ही प्रयोग, आख्यायिका के लिये आवश्यक होता है।

# च—( निबंध )

## निबंध की आवयश्यकता और विशेषता

आकार में आख्यायिका के अनुरूप और बातों में या गुणों में उससे भिन्नता रखते हुए 'निबंध' नाम का एक स्वतन्त्र साहित्यिक वर्ग विद्वानों ने स्वीकार किया है। सरल शब्दों में निबन्ध उस लेख को कहते हैं जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तार पूर्वक, पाण्डित्य पूर्ण विचार किया जाता है। अच्छे निबंध में बहुत सी उपयोगी बातें बतलाई जाती हैं।

प्रायः कहा जाता है कि निबंध लिखने की परिपाटी इसीलिये चली थी कि लोग अपने विचार करने का कोई ऐसा साधन ढूंढ़ते थे जिसमें उनको बातचीत की भी स्वतंत्रता प्राप्त हो।

निबंध गद्य लेखक की अभिव्यञ्जन पटुता की और पाण्डित्य की कसौटी होता है।

## निबंध के उपकरण

निबंध भाव प्रकाशन की एक शैली विशेष है। प्रत्येक शैली की अपनी २ विशेषता होती है। निबंध में भी अपनी कुछ विशेषताएं हैं, इन्हीं विशेषताओं को हम निबंध के उपकरण नाम से कहते हैं। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

क—शैथिल्यपूर्ण हलका वातावरण

ख—सुशृंखलित विचार-योजना

ग—भाषा का चोज

घ—भावना और तन्मयता

ङ—व्यक्तिगत अभिव्यक्ति पूर्ण विवेचना

च—उद्देश्य-एकता

छ—विषयानुकूलता। ये निबंध के वे तत्त्व हैं या गुण हैं जिन्हें ध्यान में रख कर चलने से निबंध सफल एवं प्रभावपूर्ण कहला सकता है।

## निबंध के प्रकार, लेखक की वृत्ति से अनुसार

निबंध के वर्त्तमान रूप का पिता पश्चिम का विद्वान् मौनटेन था। प्रायः सभी निबंधकारों के निबंध अपनी २ निजी विशेषताओं से युक्त होते हैं। मौनटेन का निबंध सरल था।

इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध निबंधकार श्री बेकन के निबंध दार्शनिक

होते थे और शैली तार्किक। एक प्रकार से बेकन के निबंध प्राचीन भारतीय दार्शनिक निबंध-लेखकों के मार्गानुयायी निबंध थे।

स्टील, एडीसन, डाक्टर जानसन आदि निबंध के द्वितीयो० स्थान को लेकर आते हैं। इन लोगों के निबंध रूढ़ियों एवं सामाजिक बुराइयों के विरोध में विनोद एवं व्यङ्ग्यपूर्ण शैली को लेकर आए। हिन्दी में भारतेन्दु-युग के निबंधकारों की भी यही शैली थी।

तीसरे खेवे में श्री मैथ्यू आरनल्ड, हेजलिट, डीक्वेंसी, लेहंट आदि का नाम उल्लेखनीय है। चिन्तनपूर्ण विशद अभिव्यक्ति ही इनके निबन्ध का आधार रही है।

पुनः निबंध के उक्त विचार-विभिन्नता के आधार पर किये गये प्रकार भेद के अतिरिक्त एक और भी प्रकार भेद था. यह था आकार-भेद। कोई वृहदाकार निबंध पसन्द करता था तो कोई अत्यन्त संक्षिप्त निबन्ध।

मेकाले महोदय जो भारत में भी खूब ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनके निबन्ध अधिकतर अतिशयोक्ति पूर्ण, चमत्कार युक्त, आकर्षक एवं वृहदाकार शैली के होते हैं। एवं अन्य लोगों के निबंध संक्षिप्त आकार को लेकर चले हैं।

हिन्दी निबंध भी प्रायः इन्हीं मार्गों से चला जिनसे अंग्रेजी निबंध गुजरा था। अन्तर इतना ही है कि हिन्दी में यह विकास धीरे २ और अब तक हो ही रहा है। इस शिथिलता का कारण पहिले तो परतंत्रता थी, और अब सरकार की अपनी ही भाषा के प्रति विमनता।

हिन्दी निबंध का आदि रूप शाब्दिक प्रयोगों से भरा रहा करता था। अनुप्रासादि का बाहुल्य रहा करता था। हिन्दी में

वास्तविक निबंध का विकास पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा हुआ। आपको हिन्दी निबंध—क्षेत्र का 'मौनटेन' या ※'लेम्ब' कह सकते हैं।

गंभीरता-समन्वित शैली के हिन्दी निबंधकारों में पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० रामचन्द्र शुक्ल, पं० बदरीनारायण चौधरी, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पं० माधव मिश्र एवं भावना संवलित निबंधकारों में श्री *पूर्णसिंह तथा बा० †गुलाबरायजी अग्र गण्य हैं।

---

※ लैम्ब-व्यक्तिगत निबंध लेखन में परम पटु निबंधकार थे।

* और † दोनों लेखक अंग्रेज निबंधकार रसकिन और इमरसन की कोटि के हैं।

( ५ )

## दृश्य काव्य का विकास और विवेचन

दृश्य काव्य वह काव्य है जो देखा जा सके अर्थात् जिसका अभिनय किया जा सके। अपने भावों और विचारों को दूसरे पर प्रकट करने की इच्छा मानव-प्रवृत्ति का एक अनिवार्य गुण है। मनुष्य में यह प्रकृति बचपन से ही उद्भूत हो जाती है। इस प्रवृत्ति को जब मनुष्य अनुकरण द्वारा अभिव्यञ्जित करने लगता है, दृश्यकाव्य या नाटक का श्रीगणेश हो जाता है। अनुकरण में कथोपकथन या वार्त्तालाप का समावेश हो जाता है तब वह पूर्णतया नाटक की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। नाटक की उत्पत्ति के मूल में नृत्य और संगीत का बहुत बड़ा हाथ है।

### नाटक के आरंभ का इतिहास

मानव प्रकृति से भयभीत होकर *धर्म में प्रवृत्त हुआ। अपने देवताओं का गुणगान करने लगा। वीरों की पूजा की। यहीं से नाटक का व्यवस्थित रूप आरंभ हुआ। संसार में नाटक की उत्पत्ति पाई जाती है।

---

* नाटक के उदय के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं :—(१) धार्मिक कृत्यों से इसका सम्बन्ध मानता है, और (२) लौकिक और सामाजिक कृत्यों से। पर याद रखना चाहिये भारत का कोई लौकिक या सामाजिक कृत्य ऐसा नहीं जो धार्मिकता से शून्य हो, अतः दोनों प्रकार के ही मत भारतीय क्षेत्र में एक दूसरे में घुले-मिले रहने से एक ही मत के रूप में

अनुकरण मनुष्य का स्वभाव है। स्वभाव सभ्यता के साथ साथ निखरता है। इसका प्रमाण संसार की सबसे प्रथम साहित्यिक कृति ऋग्वेद में मिलता है। नाटक के तीनों तत्त्व — गीति काव्य, आख्यान तथा तथा कथोपकथन उक्त वेद में प्रचुर मात्रा में हैं। इससे सिद्ध है नाटक का सूत्रपात वैदिक युग में ही हो चुका था।

उपन्यास और नाटक दोनों ही व्यक्ति प्रधान रचनाएँ हैं। केवल इनके दृष्टिकोण का अन्तर है। उपन्यास चाहे जिस रूप का हो, भूत से ही सम्बन्ध रखता है। वह आख्यान का ही रूपान्तर है। इसके विपरीत नाटक चाहे भूतकाल की घटना ही

---

स्वीकार किये जा सकते हैं।

कुछ विदेशी पण्डितों के, नाटक के विकास पर, भिन्न २ मत इस प्रकार हैं:— १-प्रोफेसर श्री मैक्समूलर, २-पं० लेवी, पं० हर्टेल आदि ने वैदिक ऋचाओं के गान से ही नाटक का जन्म माना है।

लेकर क्यों न चले, उसका सम्बन्ध सदा वर्त्तमान से ही रहता है। वह भूत को भी पुनः वर्तमान बना देता है।

नाटक के मूल में चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं :—

क—अनुकरण

ख—परस्पर परिचय और आत्म विस्तार

ग—जाति की रक्षा और

घ—आत्माभिव्यक्ति।

नाटक का उदय जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यों से हुआ है। इसका कारण यही है कि संसार के आदि काल में धर्म की ही प्रधानता थी। यूनान में नाटक का उदय धार्मिक कृत्यों से ही हुआ माना जाता है। इङ्गलैण्ड में नाटक का विकास क्राइस्ट की जीवन लीलाओं के अभिनय से हुआ है। अतः सिद्ध यही होता है कि नाटक का उदय धार्मिक अवसरों पर जनता के द्वारा, जनता के समक्ष किये गये धार्मिक कृत्यों से ही हुआ है।

नाटक के उदय के सम्बन्ध में यह कल्पना कि जनरंजन के लिये ‡ब्रह्मा ने चारों वेदों से भिन्न २ तत्त्व लेकर नाट्यवेद की पंचम वेद के नाम से रचना की, उक्त धार्मिक कृत्यों वाली उक्ति के विपरीत नहीं जाती। वैदिक ऋचाओं से यदि नाटक की उत्पत्ति मानी जाती है तो यह ब्रह्मा वाला कथन भी युक्तियुक्त ही है। वेदों के मूल निर्माता ब्रह्मा ही तो हैं।

‡ ब्रह्मा ने—ऋग्वेद से संवाद, यजुर्वेद से कथा, सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से अभिनय लेकर पंचमवेद 'नाट्यवेद' बनाया है, यह भी नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक प्राचीन मत है।

## भारतीय नाटक पर यूनानी नाट्यकला का प्रभाव

पश्चिमी विद्वान् भारतीय सभ्यता को महत्त्व अवश्य देते हैं, किन्तु, उतना नहीं जितना यूनान और मिश्र की सभ्यता को। परन्तु, भारत की सभ्यता की प्राचीनता पर किसी प्रकार का प्रश्न करने की गुंजाइश शेष नहीं रहती। नाटक किसी जाति की सभ्यता की पराकाष्ठा का द्योतक है, और उसका सर्व प्रथम उदय भारत में ही हुआ है अतः कह सकते हैं भारत संसार की सभ्यता का पलना है। यहीं से सारी सभ्यताएं फलफूल कर इधर-उधर फैली हैं। यह अवश्य मानने की बात है कि बौद्धकाल की कला पर यूनानी प्रभाव अवश्य है, किन्तु नाटक तो बुद्ध के बहुत पहिले की कला है। अतः नाटक पर यूनानी प्रभाव मानने की गुंजायिश ही नहीं रह जाती है।

यूनानी नाटक में अंक विभाजन का अभाव है, रोमन नाटक जिनमें अङ्क-विभाजन होता था, बहुत पीछे की चीज है, भारत के नाटकों में अङ्क-विभाजन आरंभ से ही था। ऐसी दशा में यूनान के नाटक का भारत के नाटक पर क्या प्रभाव हो सकता है? केवल जवनिका शब्द को लेकर कुछ लोगों ने विन्डिश महोदय के अनुसार धाँधली करना चाही है। यहाँ इस विवाद को समाप्त करने के लिए हम श्री कीथ का एक उदाहरण दे देना ठीक समझते हैं। वे कहते हैं :—Nor was there any curtain in the case of Greek Drama, so far as is known, from which it could be borrowed, Windische's contention merely was that the curtain was called Greek Leacause it took the place of the painted scenery at the back of the Greek stage.

इसके विपरीत हमारे यहाँ 'अमरकोष' में जवनिका शब्द इस प्रकार आया है:—"प्रतिसीरा वयनिका स्यात् तिरस्कारिणी च सा" पुनः यह हलायुध का वाक्य है :—

"अपटी काण्डपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्कारिणी" ऐसी दशा में केवल 'जवनिका' पद को लेकर उसके रूप 'यवनिका' के द्वारा उसे यूनान शब्द से जोड़ना सर्वथा निमूंल है। इसके अतिरिक्त यदि खोज की दृष्टि से देखा जाय तो भारत का नाटक ईसा से ४०० वर्ष पूर्व का तो निश्चय ही सिद्ध हो जाता है। पाणिनी महोदय का समय ईसा से ४०० वर्ष पूर्व निश्चित माना जाता है। पाणिनी के सूत्रों में *कृशाश्व और शिलालिन दो सूत्रकारों के नाम आये हैं। ये दोनों नट-सूत्रकार थे। नृत्य और नृत्त के लिये इनके नाम उल्लेखनीय हैं। नृत्य-नृत्त से अभिनय का अभिन्न सम्बन्ध है। ऐसी दशा में भारत का नाटक अति प्राचीन ठहरता है। नाटक चीन और मिश्र के भी कम प्राचीन नहीं, ऐसी दशा में भारत, चीन और मिश्र तीनों में ही हो सकता है यदि कोई आगे पीछे का संघर्ष हो सकता है, यूनान के साथ कदापि ऐसा संघर्ष संगत नहीं है।

## नाटक की विशेषता

उपन्यास या श्रव्य काव्य की सूचना केवल पढ़ने के लिए होती है, पर, नाटक की सूचना रंगशाला में अभिनय के द्वारा प्रकट करने के लिये होती है। अभिनय ही नाटक का आत्मा है उसके विना अभिनय में सजीवता आई नहीं सकती।

पुराने नाटकों को पढ़ते समय हमें यह भी ध्यान रखना

* 'कर्मन्दकृशाश्वदिनिः'

‡ 'पाराशर्य शिलालिभ्याँ भिक्षुनटसूत्रयों'

पड़ता है कि जिस समय वे नाटक बने थे, और जिस देश में बने थे, उस समय और उस देश में रंगशालाएँ कैसी थीं, उनकी व्यवस्था क्या थी, क्योंकि नाटक की रचना प्रायः रंगशाला की परिस्थितियों के अनुसार ही होती है। इसलिये जो लोग कालिदास या भास के नाटक पढ़ना चाहते हों, उन्हें इस बात का भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये कि उन कवियों के समय की रंगशालाएं कैसी होती थीं, और उनकी क्या व्यवस्था थी? रंगशाला का नाटक में बहुत बड़ा महत्त्व है, रंगशाला ही के कारण नाटक के लिये 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा जाता है। श्रव्य काव्य के पढ़ने पर जो चित्रपटी निर्माण का काम मस्तिष्क को करना पड़ता है, वह नाटक में चक्षु के सामने रहने के कारण नाटक द्वारा रसास्वादन, श्रव्यकाव्य की अपेक्षा अधिक होता है। यही नाटक की काव्य-क्षेत्र में विशेषता है।

## रूप रचना और नाटक

रंगशाला का सम्बन्ध देश काल से होता है, और रूप रचना का व्यक्ति से। यद्यपि व्यक्ति देश काल से भिन्न नहीं होता, देश व काल के अनुसार ही उसकी अपनी वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन होती हैं तब भी उसका अपना व्यक्तित्व रूप रचना द्वारा ही अधिक स्पष्ट होकर सामने आता है। अतः रूप रचना नाटक का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। ऐतिहासिक नाटक तो इसी अङ्ग पर निर्भर रहता है।

## नाटक के प्राचीन भेद

प्राचीन आचार्यों ने नाटक को रूपक भी कहा है। 'रूपारोपात्तु रूपकम्' चूंकि नाटक में किसी के रूप का आरोप किया जाता है अतः उसे रूपक कहना असंगत नहीं है। ये रूपक दस होते हैं—

१—नाटक (रूपकों में मुख्य है) यथा 'शकुन्तला नाटक'
२—प्रकरण—यथा 'मालती माधव'
३—भाण यथा 'विषस्य विषमौषधम्' ।
४—व्यायोग—यथा—'धनञ्जय विजय'
५—समवकार—यथा—"अमृतमंथन"
६-'डिम' यथा-"त्रिपुरदहन" हिन्दी में कोई उदाहरण नहीं है
७—'ईहामृग'—उदाहरण नहीं है ।
८-'अङ्क' यथा—"शर्मिष्ठाययाति"
९—'वीथि' यथा—'लीलामधुकर'
१०—'प्रहसन' यथा—'अंधेर नगरी'

---

१—इसकी वस्तु में पाँच सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्प और निर्वहण) चार वृत्तियाँ (कैशिकी, सात्वती आरभटी और भारती,) चौसठ सन्ध्यङ्ग माने गये हैं। पाँच से दस तक अङ्क, विषय इतिहास सिद्ध, नायक धीरोदात्त, रस शृङ्गार, वीर अथवा करुण होना चाहिये ।

२—इसमें प्रायः नाटक की सी ही वस्तु होती है, नायक मन्त्री, धनी या ब्राह्मण होना चाहिये, और विषय कल्पित। शृंगार की प्रधानता होनी चाहिये ।

३—धूर्त्तचरित्र प्रधान, एकाँकी रचना का नाम भाण है

४—यह भी एकांकी होता है, इसमें स्त्री-पात्र का अभाव होता है।

५-इसमें १२ तक नायक होते हैं। विमर्प सन्धि और 'विन्दु' नाम की अर्थ प्रकृति नहीं होती। कथा देव या दानवों से सम्बन्धित होती है। युद्ध प्रधान होता है।

६—इसमें चार अङ्ग और सोलह नायक होते हैं। शृंगार या हास्यरस वर्जित हैं।

उपरूपकों के ‡अठारह भेद हैं।

## प्राचीन रंगमंच

भरतमुनि ने नाट्यशालाओं का उल्लेख करते हुए तीन प्रकार की नाट्यशालाएं बतलाई हैं।

---
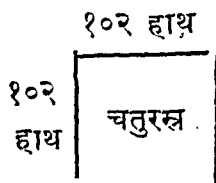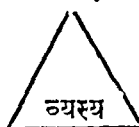
७—एक धीरोदात्त और एक प्रतिनायक होता है।

८—इसमें एक ही अङ्क होता है। करुणरस प्रधान एवं नायक आख्यान प्रसिद्ध होता है। केवल मुख और निर्वहण संधियाँ ही होती हैं।

६—भाण की भाँति, विषय कल्पित, रस शृङ्गार और वीर होता है।

१०—इसमें हास्यरस प्रधान होता है। सन्धियाँ केवल मुख और निर्वहण ही होती हैं।

‡ १-नाटिका, २-त्रोटक, ३-गोष्ठी, ४-सट्टक, ५-नाट्य-रासक, ६-प्रस्थानक, ७-उल्लाप्य, ८-काव्य, ९-प्रेङ्खणक, १०-रासक, ११-संलापक, १२-श्रीगदित, १३-शिल्पक १४-विलासिका, १५-दुर्मल्लिका, १६-प्रकरणिका, १७-हल्लीश और १८-भाणिका।

३२ हाथ

(ग) विकृष्ट

६२ हाथ | विकृष्ट
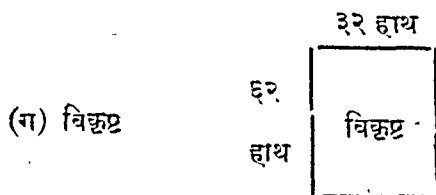
## हिन्दी रंगमंच

हिन्दी में अभी तक कोई स्वतन्त्र रंगमंच परिपाटी नहीं बनी
ासके अनुकूल हमारे नाटकों की रचना हो सके। प्रसादजी ने
ान्दी रङ्गमंच की असफलता का कारण बतलाते हुए कहा है कि
ामें स्त्रियों का सहयोग न मिल सका' परन्तु, इतना ही नहीं
ान्दी रंगमंच का विरोधी 'सवाक चित्रपट' भी है। सिनेमा ने,
नते २ हिन्दी मंच की प्रगति को रोक दिया है। इसके पश्चात्
श्रिमी विद्वान् इब्सन के ढंग के नाटकों ने तो हिन्दी रंगमंच की
ही सही आशा पर भी पानी फेर दिया है। भारतेन्दु बाबू
जस आशा को लेकर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आये थे वह
साद के द्वारा अवश्य पूरी होती यदि उक्त कारण मार्ग के रोड़े
नकर सामने न आये होते।

## नाटक के तत्त्व

हमारे प्राचीन आचार्यों ने नाटक के केवल तीन तत्त्व
ाने हैं :--

क--वस्तु

ख--नायक और

ग-रस। इसी आधार पर उन्होंने रूपकों के उपर्युक्त
ादोपभेद किये हैं। यहाँ तर्क उठता है कि कथोपकथन को तत्त्वों

में क्यों नहीं रखा गया जब कि वेदों में इस तत्त्व का प्राधान्य भी था ? इस तर्क का समाधान यही हो सकता है कि नायक (पात्र) के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने से इसी में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। वृथा तत्त्वों की संख्या बढ़ाने से लाभ ? आधुनिक आचार्यों ने तो नाटक के भी वे ही ६ तत्त्व माने हैं जो उपन्यास के हैं :—

क—वस्तु
ख—पात्र
ग—कथोपकथन
घ—देश काल
ङ—शैली और
च—उद्देश्य

## १—वस्तु

नाटक यथा साध्य संक्षिप्त और ऐसा होना चाहिये जिसके अभिनय में इतना अधिक समय न लगे जिससे द्रष्टागण ऊब जायं।

इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने पहिले कथा-वस्तु को नियंत्रित किया है। प्रथम उसके दो भाग किये है :—

क—दृश्य कथावस्तु और
ख—सूक्ष्म कथावस्तु

दृश्य कथा वस्तु वह कथा वस्तु है जिसका प्रत्यक्ष अभिनय रङ्ग के मञ्च पर दिखाया जा सकता है, और (ख) सूक्ष्म वह कथा वस्तु है जिसकी नेपथ्य से सूचना मात्र देकर समय की बचत की जा सकती है। आधुनिक नाटकों में नाट्यशास्त्र के नियमों का प्राय: जो अभाव देखा जाता है उससे यही कहने का

साहस होता है कि कुछ दिन में 'कथोपकथन' मात्र के आधार को लेकर नाटक केवल पढ़ने की वस्तु रह जायगा, इसके वास्तविक तत्व नष्ट होने से भारत की इस बहुत प्राचीन कला का अस्त निकट भविष्य में ही हो जायगा, यह परम खेद का विषय है।

## २—पात्र

नाटक में नाट्य की ही प्रधानता नहीं होती। चरित्र-चित्रण भी नितान्त आवश्यक है। शेक्सपियर या द्विजेन्द्रलाल राय महोदय के नाटकों का महत्व इसी में है कि उनके नाटकों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। इन लेखकों के नाटकों में मुख्यतः विचारों और भावों का विकास ही दिखलाया गया है, जो चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

नाटक पर समय का नियंत्रण रहने से उसमें चरित्र-चित्रण के लिये भी सीमित स्थान रहता है, यही कारण है कि नाटक के कथोपकथन का प्रत्येक शब्द कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण अर्थ का वहन करने वाला होना चाहिये, और उसके प्रत्येक अङ्ग का सारे नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध होना चाहिये।

जिस अवसर पर नाटककार को अपने किसी पात्र के बहुत सूक्ष्म भाव को प्रदर्शन करना पड़ता है, उस समय तो उसकी कठिनता और भी बढ़ जाती है। नाटककार के चरित्र-चित्रण का आधार अभिनयात्मक होता है यही कारण है कि उसे उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक योग्यता से कार्य करने की आवश्यकता होती है।

चाहे नाटक हो चाहे उपन्यास कथावस्तु बहुत कुछ चरित्र-चित्रण पर ही आश्रित होती है। कथा-विकास या घटना सूत्र-

विकास एक प्रकार से चरित्र-विकास का ही दूसरा रूप है। वस्तु और चरित्र के विकास के सामंजस्य पर ही नाटक की सफलता एवं विफलता निर्भर है।

### ३—कथोपकथन

पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध आदि का पता कथोपकथन से चलता है। लेखकी व्याख्या या टिप्पणी का भी काम इस तत्त्व के सहारे चलता है।

कथोपकथन के द्वारा दो प्रकार से चरित्र-चित्रण होता है :—

(क) पात्रों के आपस के वार्त्तालाप से चरित्र परिचय और

(ख) एक पात्र का किसी दूसरे पात्र के द्वारा वर्णन या व्याख्या द्वारा चरित्र परिचय।

यदि किसी पात्र से स्वयं उसी के अपने सम्बन्ध में कोई बात कहलानी हो तो वह उससे अनजान में, सहज में प्रसङ्ग लाकर, और ऐसे ढँग से कहलानी चाहिये जिससे वह अस्वाभाविक न जान पड़े। नाटक में इस प्रकार के संवाद के लिये विशेष नियम का सहारा लेना पड़ता है। इस सम्बन्ध में हमारे भारतीय आचार्यों ने कथोपकथन, या दृश्य कथावस्तु के तीन भाग किये हैं :—

क—नियत श्राव्य

ख—सर्व श्राव्य और

ग—अश्राव्य।

जो बात कुछ पात्रों से छिपाकर कुछ से कह दी जाती है वह 'नियतश्राव्य' कहलाती है। जो सभी को सुनादी जाती है वह 'सर्वश्राव्य' कहलाती है। जिस बात को किसी से न कहना हो उसे पात्र स्वयं बड़बड़ाता है, और इसी को 'अश्राव्य' या

'स्वगत कथन' कहते हैं। 'स्वगतकथन' संवाद से गुप्तभाव प्रकट किये जाते हैं। 'स्वगतकथन' का प्रयोग केवल मंच-स्थित अन्य पात्रों के लिये होता है द्रष्टाओं के लिये नहीं। पाश्चात्य देश वालों ने 'स्वगत कथन' के स्थान पर एक नया पात्र लाकर, जोकि विश्वास पात्र होता है–सब कुछ कहला देने की पद्धति निकाली है। 'स्वगत' अस्वाभाविकता को उत्पन्न करता है। इसी से इससे आधुनिक नाटककार बचना चाहते हैं।

## आकाश-भाषित

इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है मानों उससे कोई पूछ रहा है या उसे कोई उत्तर दे रहा है। इस प्रकार के सँवाद का पाश्चात्य नाटकों में कोई स्थान नहीं होता। आकाश भाषित का उदाहरण सत्य हरिश्चन्द्र में है। सत्य हरिश्चन्द्र स्वयं ऊपर मुख कर के कहते हैं–"क्या कहा, तुम ऐसा दुष्कर्म क्यों करते हो ?' मानों उनसे कोई कुछ कह रहा हो, और वे उसे उत्तर देने को तैयार हों।

## संकलनत्रय

कथोपकथन के उपरान्त देशकाल का स्थान है। देशकाल के सम्बन्ध में प्रायः उन्हीं बातों का विचार रखना पड़ता है जिनका उपन्यास के देशकाल तत्त्व के सम्बन्ध में उल्लेख हो चुका है। नाटक में देशकाल के साथ २ 'संकलनत्रय' पर भी प्रसंगवश विचार कर लेना आवश्यक है। यह संकलन तीन प्रकार का होता है :—

क—देश संकलन या स्थान संकलन
ख—काल संकलन और
ग—वस्तु संकलन।

'संकलनत्रय' के विषय में भारतीय दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही है। लोगों का कहना है कि भारतीय नाटक इस ओर कुछ ध्यान नहीं देते। बात यह है कि 'संकलनत्रय' प्राचीन यूनानी नाटकों के मुख्य अङ्ग थे, और अब प्राय: फ्राँसीसी नाटकों को छोड़ कर कहीं देखने को नहीं मिलते। भारत में संकलनत्रय पर विचार अवश्य रखा जाता है, किन्तु, यूनानी दृष्टि से नहीं।

## (क) यूनानी दृष्टि से स्थल संकलन

यूनानियों के स्थान संकलन का अर्थ रंगशाला का दृश्य आदि से अन्त तक एक ही रखना था। इस नियम के अनुसार नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान में, एक ही दृश्य में, दिखलाई जा सके। वास्तव में इस प्रकार का स्थल-संकलन दूषित या अस्वाभाविक नियम था। यही कारण था कि यह चल न सका। भारतीय दृष्टिकोण से स्थलसंकलन का उपयोग पृष्ठभूमि के अर्थ में लिया जाता है। कथावस्तु के अनुकूल दृश्यों की व्यवस्था ही भारतीय दृष्टि का स्थलसंकलन है। यही कारण है कि अनेक विद्वान् यूनानियों की अपेक्षा हिन्दुओं की सृष्टि-सौन्दर्य की कल्पना अधिक ललित और वर्णन अधिक सजीव मानते हैं।

इसी भाँति कालसंकलन का भी प्रश्न है।

## (ख) यूनानी दृष्टि से कालसंकलन

यूनानी लोग कालसंकलन का अर्थ यह लेते हैं कि जो दृश्य वास्तव में जितने समय में हुआ हो, उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। भला सोचिये कितना भद्दा नियम है। यथा रामायण का कथानक प्रदर्शित करने में १४ या इससे भी अधिक वर्ष लगाये जाने चाहिए? भारतीयों ने इस संकलन

को भी बड़े सुन्दर ढंग से अपनाया है। वे कालसंकलन का अर्थ कथावस्तु को निश्चित समय में सम्पूर्ण करने से लेते है, ताकि द्रष्टागणों को कथा के लम्बे होने से अरुचि न होसके।

इसी प्रकार कथा-संकलन के सम्बन्ध में भी यूनान और भारत के दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर है।

## (ग) यूनानी दृष्टि से वस्तु-संकलन

यूनानी लोग नाटक की कथा प्रायः ऐसी लेते थे जो एक ही कृत्य के सम्बन्ध में हो। ऐसा करने से नाटक में जीवन की पूरी व्याख्या के लिए स्थान नहीं रहजाता उसीसे शेक्सपियर ने तो संकलनत्रय के नियम का उल्लङ्घन ही कर दिया है, उसके नाटकों में अनेक स्थल और अनेक वर्षों की घटनाएँ आजाती हैं। भारतीयों ने इस वस्तु-संकलन का भी बड़ी सुन्दरता से उपयोग भारतीय दृष्टि से कथा संकलन का अर्थ इतना ही है कि कथा का निर्वाह आदि से अन्त तक ऐसा हो कि उद्देश्य और सिद्धान्त के प्रतिकूल न जा सके बस इसी में कथा-वस्तु की सुन्दरता है। गौण या प्रासंगिक एवं मूल या आधिकारिक ये दो भेद कथावस्तु के उक्त सिद्धान्त के आधार पर ही किये गये हैं। आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा का सामंजस्य न बिगड़ने देना ही भारतीय दृष्टि का कथा-संकलन है। भारतीय नाटक में '**संकलन**' का स्वाभाविक उपयोग ही नाटक की सुन्दरता है।

## उद्देश्य

नाटक का उद्देश्य जीवन की व्याख्या या आलोचना करना होता है। पात्रों द्वारा कही हुई बातों के लिये नाटककार उत्तरदायी होता है। नाटककार के स्वयम् के उद्‌गार पात्रों में आते हैं। ऐसे ही उद्‌गारों को चुनकर हमें किसी नाटक के उद्देश्य को

स्थिर करना पड़ता है, जो नाटककार ने अपने देशकाल की अथवा अन्य देशकाल की अनुभूतियों से प्रभावित होकर अपने पात्रों द्वारा प्रकट कराये हैं। नाटक के जिन पात्रों के साथ हमारी सहानुभूति हो, उसके उद्‌गारों की तुलना ऐसे पात्रों के उद्‌गारों के साथ करनी चाहिए जिनके साथ हमारी सहानुभूति न हो, और तब फिर हमें नाटक के उद्देश्य की ओर देखना चाहिए। ऐसा करने से किसी रचना का उद्देश्य स्थिर करने में कठिनता नहीं रहसकती।

दूषित नाटक किसी जाति के नैतिक पतन के सूचक होते हैं। आधुनिक समस्या-नाटकों को इसी श्रेणी के नाटक समझना चाहिये। नाटक का सबसे बड़ा उपयोग नैतिक उन्नति और सामाजिक कल्याण में होता है, और नाटक के इसी उपयोग को ध्यान में रखकर नाटक लिखा जाना चाहिये, तभी नाटक अपने उद्देश्य में सफल कहला सकता है।

## नाट्य-रचना के सैद्धान्तिक-तत्त्व

नाटक के दो पक्ष होते हैं। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी रहते हैं! इसी विरोध तत्त्व के साथ २ कथावस्तु का विकास होता है और यही विरोध नाटक में मानसिक व कायिक संघर्ष भी उत्पन्न करता है। नाटक में अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष ही उसकी आत्मा का काम करते हैं। रस-संचार में इन्हीं दोनों स्थितियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

जहाँ से नाटक का विरोध चलता है, वहीं से मुख्य कथावस्तु का आरम्भ होता है, और जहाँ इस विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता है, वहीं मानो कथावस्तु का अन्त होजाता है।

भारतीय नाटक में इस विरोध भाव को उद्योग और सफलता के रूप में प्रतिपादित किया जाता था। आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों ने नाटक को पाँच भागों में विभक्त किया है:—

(क) आरम्भ या कथा का श्रीगणेश

(ख) विकास या विरोध वृद्धि

(ग) चरमसीमा या जहाँ एक पक्ष की विजय चिन्ह दिखाई पड़े

(घ) उतार–जिसमें विजयीदल की विजय असंदिग्ध होजाय।

(ङ) समाप्ति या जिसमें विरोध या संघर्ष का पर्यवसान होजाय

प्राचीन आचार्यों ने कथावस्तु के इसी प्रवाह-क्रम को इस प्रकार विभाजित किया है:—

(क) आरम्भ–फल प्राप्ति की उत्कण्ठा से कथारम्भ

(ख) यत्न–फल प्राप्ति के लिये व्यापार करना

(ग) प्राप्ताशा–प्राप्ति की आशा दृढ़ होना

(घ) नियताप्ति–विघ्नों का नाश होकर फल का मार्ग निश्चित होना। और

(ङ) फलागम–फल मिलना। इन्हें नाट्य शास्त्र की परिभाषा में अर्थ प्रकृतियाँ कहा जाता है। ये अर्थ प्रकृतियाँ कथावस्तु के निम्न भागों के अर्थों को व्यक्त करती है:—

(क) बीज अर्थात् आरम्भ

(ख) विन्दु ,, यत्न

(ग) पताका ,, नियताप्ति

(घ) प्रकरी ,, प्राप्ताशा

(ङ) कार्य ,, फलागम

इस प्रकार नाटक रचना के उक्त तत्वों की तुलना करके देखें तो कोई मोटा अन्तर दिखाई नहीं देता। भारतीय नाटक-विधान अधिक वैज्ञानिक व संगत है, क्योंकि उपर्युक्त विभागों के अनु-

सार नाटक में पाँच या दस अंक रखना ही अधिक समिश्रण है। उपर्युक्त प्रत्येक विभाग का एक-एक या दो-दो अङ्कों में समावेश होजाना चाहिये तभी नाटक को सफलता मिलती है। इसी कारण भारतीय नाटककारों ने कुछ आवश्यक नियमों का निर्माण किया है। इन नियमों के अनुसार कथावस्तु के निर्वाह का पूर्णतया नियंत्रण किया गया है। नाटक की पाँचों *संधिया अङ्कविभाजन, ‡वृत्तियाँ, ᐩअर्थोपेक्षक और नायक आदि का विधान नाटक को पूर्णतया सफल बनाने में साधक सिद्ध होता है।

## नाटक के क्षेत्रों में श्री इब्सन और उनका प्रभाव

यूरोप के नाटक का प्रभाव अन्य देशों के आधुनिक नाटकों पर बहुत गहरा पड़ा है। यूरोप में नाटकीय-संसार में क्रान्ति लाने वाले श्री इब्सन महोदय हैं। आपने नाटक के आदर्शों को क्या बदला है, नाटक की आत्मा को ही बदल दिया है। आपने नाटक में निम्नलिखित परिवर्त्तन किये हैं:—

---

* मुखसन्धि ( बीज ) प्रतिमुख सन्धि ( बिन्दु ) गर्भसन्धि ( पताका ) विमर्शसन्धि ( प्रकरी ) निर्वहणसन्धि ( कार्य )

‡ कैशिकी, सात्वती, आरभटी, और भारती। रसोत्कर्ष से वृत्तियों का घनिष्ट सम्बन्ध है

ᐩ ये पाँच होते हैं। विष्कम्भक = इसमें उच्च पात्रों की बातचीत से अगली घटना की सूचना दिलाई जाती है। प्रवेशक = ये दो अङ्कों के बीच में आकर अगली घटना की सूचना देता है इसके पात्र निम्नश्रेणी के होते हैं। चूलिका = पर्दे के पीछे से दी गई सूचना को कहते हैं।

क-ऐतिहासिकता को हटाकर वर्त्तमान समाज को नाटक का आधार बनाया।

ख-अभिजातवर्ग के स्थान पर साधारण लोगों को नायकत्त्व प्रदान किया

ग-व्यक्तिगतरागद्वेष के स्थान पर सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाने लगा।

घ-बाह्यसंघर्ष के स्थान पर आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता दीगई।

ङ-स्वगत कथन आदि की कमी की गई। परन्तु वास्तव में ये सब बातें सिद्धान्त रूप में ही रहीं, व्यवहार में पूर्णतया नहीं लाई जासकीं। हिन्दी में जिन नाटककारों पर इस पद्धति का प्रभाव पड़ा वे हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वरप्रसाद एवं पंत जी आदि। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'राजयोग' एवं 'सिन्दूर की होली' समस्यानाटकों के नाम से इब्सनी पद्धति के अनुसार ही लिखे हुये नाटक हैं। भारतीय नाटककार यद्यपि इब्सनी पद्धति पर लिखते हैं तब भी उनके नाटकों में कुछ न कुछ भारतीय आदर्श अवश्य ही आजाता है। वास्तव में आदर्श ही काव्य का यथार्थ होता है अतः उसे आना ही चाहिये। यही कारण है कि इब्सन महोदय भी नाटक-शैली स्वाभाविकता का ढिंढोरा पीटने वाली कहलाकर भी अस्वाभाविक ही सिद्ध होती जारही है। इसका कारण यही है कि नाटक मंच की वस्तु है और इब्सन इसे मंच से दूर ले जारहे हैं। उनके

अंकास्य =अंक के अन्त में बाहर जाने वाले पात्रों से अंकास्य द्वारा ही अगले अंक की कथा की सूचना दी जाती है।

अंकावतार = जहाँ बिना पात्रों के बदले पिछले अंक की कथा अगले अंक में चलाई जावे।

नाटकों में उपन्यास की तरह विशदरूप से मंच का उल्लेख करके ही वे तृप्त हो लेते हैं, किन्तु इससे नाटक का काम नहीं चल सकता, नाटक का तो उद्देश्य तभी सफल होगा, जब वह मंच की कसौटी पर सफल उतरेगा।
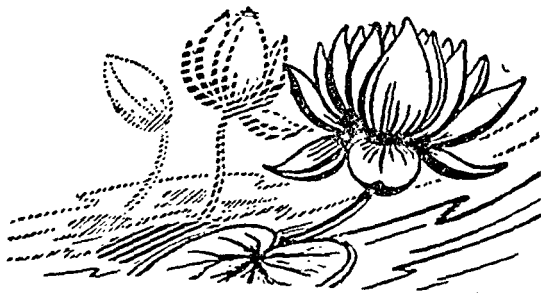
( ६ )

## रसों का विवेचन

मनुष्य अपनी कल्पना से ईश्वर जीव तथा जगत् इन तीनो तत्वों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सोचता है, एरु वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता आया है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और शक्ति के उस कोप सृजन संजय और विकास होता है जिसे हम साहित्यकहते हैं। साहित्य की मूल भूत इस अनुभूति-प्रकाशन की भावना के अतिरिक्त एक अन्य प्रवृत्ति और भी है जो सभ्य या असभ्य सभी मानव-समाजों में आनुपातिक मात्रा में सर्वत्र पाई जाती है, और जिसके बल पर साहित्य में एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इस वृत्ति को हम 'सौंदर्य प्रियता' की वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति से मानव के विचार सरस बनकर एक प्रकार के अलौकिक एवं अनिर्वच नीय आनन्द थी उपलब्धि कराते हैं। साहित्य शास्त्र में इसी आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है।

इस प्रकार काव्य साहित्य के दो पत्त हो जाते हैं—

क-भावप्रकाशन और

ख-आकर्षण प्रदान। भावों, विचारों तथा कल्पनाओं की अभिव्यंजना काव्य के भावपत्त में आती है और उसे सौंदर्य प्रदान करने की कला कलापत्त में। ये भाव और कला के वर्ग समय-समय में घटते वढ़ते रहते हैं। कभी भावपत्त की प्रधानता रहती है, तो कभी कलापत्त की।

## *काव्य के तत्त्व

काव्य में तीन तत्त्व होते हैं:—

क— बुद्धितत्त्व

ख—कल्पनातत्त्व और

ग—रागात्मकतत्त्व।

बुद्धितत्त्व उन विचारों का उत्पादक है जिन्हे कोई कलाकार या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में प्रयुक्त करता है। कल्पना तत्त्व के सहारे कवि अपने मस्तिष्क-पट पर किसी विषय के चित्र अङ्कित करता है। रागतत्त्व की सहायता से काव्य विषय कवि के या कलाकार के मन में स्वयं उद्भूत होता है। ये तीनों तत्त्व आपस में इतने मिले-जुले होते हैं कि एक विभाजक रेखा खींच कर इनकी सीमाएँ निर्धारित करना असंभव सा है।

## अन्तःकरण की वृत्तियाँ

अन्तःकरण भीतरी मानव है। मानव का यह भाग संकल्प विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा सुख-दुख आदि का अनुभव करता है। कार्य-भेद से अन्तःकरण के चार भेद माने गए हैं—मन, बुद्धि चित्त और अहङ्कार।

मन—संकल्प विकल्प कारिणी वृत्ति का नाम है।

बुद्धि—विवेक या निश्चय कराने वाली वृत्ति है।

चित्त—हृदय की अनुसंधायिनी शक्ति का नाम है।

और अहङ्कार—वृत्ति से संसार के अन्य पदार्थों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है।

वेदान्त सार के अनुसार 'मन' और बुद्धि' के अन्तर्गत

---

*साहित्य।

अनुसन्धानात्मक वृत्ति को ही*'चित्त' कहा गया है। उपर्युक्त तत्त्वों में से मन को संशयात्मक और 'बुद्धि' को निश्चयात्मिका माना गया है। देहान्त में प्राण को मन का कारण माना है और मृत्यु हो जाने पर उसका प्राण में लय हो जाना माना है। कई दार्शनिक ग्रन्थ 'मन' व 'चित्त' का स्थान हृदय को मानते हैं।

अन्तःकरण की रचना के विषय में पश्चिम का दृष्टि कोण कुछ और ही है, वे लोग मस्तिष्क को ही अन्तःकरण के व्यापारों का केन्द्र मानते हैं। मन के विषय में पश्चिम के विद्वानों के भिन्न २ मत हैं—

(१) मन विचार, स्मरण, तर्क, आकांक्षा, करता है।

(१) मन भिन्न भिन्न विषयों के इन्द्रिय ज्ञान की राशि है।

(३) मन ज्ञान, विषय, कल्पना, से परे कोई एक ऐसी वस्तु है जो इन कल्पनाओं को देखती समझती और उनके विषय में क्रियायें करती हैं।

(४) मन विचार या विकारों की शृङ्खला मात्र है।

(५) मन बुद्धि, मनोराग और सङ्कल्प के दूरबीन से ही देखने की वस्तु है।

इस सारे विवेचन से यही सिद्ध होता है कि मनोराग और बुद्धि ऐसी मानसिक वृत्तियाँ हैं, जिनका साहित्यिक रचना से अभिन्न सम्बन्ध है। विचार और कल्पना का तो बुद्धि में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

## बुद्धितत्त्व

यह अन्तःकरण की निश्चयात्मिकावृत्ति है। इसे ही मन की चेतन शक्ति भी कहते हैं। जब हमारा मन बुद्धि द्वारा किसी

* पंचदशीकार ने इन्द्रियों के नियँता को मन माना है और अन्तः करण की उत्पत्ति पंचभूतों की गुण समष्टि से मानी है।

ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के भाव हमारे मन में व्यक्त होते हैं। जब हम किसी नदी-तालाब, पेड़-फूल, घर-दुकान, मकान, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि को देखते हैं तब भिन्न-भिन्न मानसिक क्रियाओं के कारण हमारे मन में कुछ भाव जागरित होते हैं। इन्हीं का नाम 'विचार' है। ये ही विचार जब उत्तम कोटि के होते हैं तब काव्य के विषय बन जाते हैं।

## कल्पनातत्त्व

दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पांच अवस्थाएं मानी हैं:—

क—परिज्ञान।

ख—स्मरण।

ग—कल्पना।

घ—विचार।

और—ङ—सहज ज्ञान।

सर्व प्रथम साधारण *कल्पना उद्भूत होती है। फिर यही मन की तरङ्ग का रूप धारण करती है और अन्त में विधायिका वृत्ति से सम्पन्न होकर यही कवि कल्पना का रूप धारण कर लेती है। विधायक कल्पना में विशेष कौशल की आवश्यकता पड़ती है।

हमारी कल्पना-शक्ति हमारे पूर्व संचित अनुभवों के सम्मिश्रण से एक मनोहर चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करती है, और कवि या लेखक अपनी शाब्दिक शक्ति द्वारा इसी चित्र

* सहृदयकृत—'विचार-वैभव' पृष्ठ ४७ में कविता का विकास-सिद्धान्त लेख देखिये।

को ऐसा सुन्दर वर्णनात्मक रूप देता है जो मन को मुग्ध कर लेता है।

## मनोवेग या भाव

ज्ञान के साथ मन में भाव भी वर्त्तमान रहते हैं। ये सदा ही मन में रहते हैं। प्रसङ्ग या अवसर पाकर जागरित हो जाया करते हैं।

## भावों के प्रकार

भावों के निम्नलिखित प्रकार हैं:—

अ—इन्द्रिय जनित भाव

आ— प्रज्ञात्मक भाव।

और इ—गुणात्मक भाव।

( अ ) इन्द्रिय जनित भावों से ज्ञान होता है तथा ज्ञान से भावों की उत्पत्ति। यथा—अच्छे भोजन से सुख, बुरे भोजन से दुःख का भाव उत्पन्न होता है।

( आ ) प्रज्ञात्मक भाव मन की ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करने वाली शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान अनुभवों के द्वारा इन्द्रिय जनित भावों को परिपुष्ट करते हैं। साधारणतः इन्हीं भावों को साहित्य तथा काव्य में संचारी भाव कहते हैं। कभी-कभी अनुकूल वातावरण पाकर ये स्थायी भाव का रूप भी धारण कर लेते हैं।

मन में सदा नये-नये अनुभव करने की अदम्य इच्छा भरी रहती है। इसी वृत्ति की पूर्त्ति करने वाले भाव प्रज्ञात्मक भाव कहलाते हैं।

( इ ) जब मनुष्य विचारों को एकत्र करके किसी विशेष लक्ष्य का स्वरूप खड़ा करने अथवा उस लक्ष्य को पूर्ण या प्राप्त

करने में सप्रयत्न होता है तब मन में जो भाव अभिव्यक्त होते हैं वे तीसरी श्रेणी में परिगणित गुणात्मक भाव नाम से व्यवहृत होते हैं।

पुनः भावों की स्थिति के अनुसार उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है :—

क—सामान्य।

और ख—उद्दीप्त, परिवर्द्धित या तीव्र। ये ही मनोराग या मनोवेग भी कहे जाते हैं।

## आलम्बन

रस शास्त्र में आलम्बन को भावों का आधार माना है। यह आलम्बन दो प्रकार का होता है :—

क—वस्तु विषयक।

और ख—मनुष्य विषयक।

सांसारिक वस्तुएँ अनुभव को अवश्य बढ़ाती हैं, किन्तु पूरा अनुभव मनुष्यों के ही द्वारा हो सकता है, क्योंकि मनुष्य आत्मवान् होता है। एक अन्तरात्मा, दूसरे अन्तरात्मा में अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है और उसी के द्वारा अपने अनुभव को पूर्णता भी दे सकता है। आलम्बन ही भावों का आधार होता है। रस शास्त्र में आलम्बन को 'विभाव' शब्द से भी कहा जाता है। इसी से 'विभाव' के दो भेदों में से एक को 'आलम्बन' कहते हैं, दूसरे को 'उद्दीपन विभाव।' आलम्बन विभाव भावों का जनक होता है, एवं उद्दीपन विभाव, आलम्बन द्वारा उद्भूत भावों को उत्तेजित करता है।

## =अनुभाव और +संचारीभाव

विभाव ( आलम्बन और उद्दीपन ) के द्वारा मन में जो ॥ भाव उत्पन्न होता है, वह शरीर की भिन्न-भिन्न क्रियाओं के द्वारा प्रकट होता है। यथा—रोमांच, स्वेदादि। चूंकि इनके द्वारा मनोगत भावका अनुभव होता है इसलिये इन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। जो भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं, और कभी कभी मुख्य भाव का भी रूप धारण कर लेते हैं वे 'संचारी भाव' कहलाते हैं।

इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्य भाव ( स्थायीभाव ) विभाव, अनुभाव और संचारीभाव ये चारों मिलकर 'रस' की अभिव्यक्ति कराते हैं।

## रस-निरूपण

भाव अनन्त हैं, रस की भी कोई सीमा नहीं। ये दोनों ही जीवन में व्याप्त है। जहाँ कोई युक्ति काम नहीं देती वहाँ भावों को उत्तेजना देकर ही काम निकाला जाता है। भरतमुनि ने रस की परिभाषा देते हुए नाट्य-शास्त्र में ॐलिखा है कि—विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है

---

=अनुभाव आश्रय की चेष्टाओं को कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—१ कायिक, २-मानसिक और ३-सात्विक।

+संचारीभाव ३३ हैं। देव कवि ने 'छल' को भी संचारी । है।

॥ 'निर्विकार जो चित्त में उपजत प्रथम विकार, आलम्बन न तें भाव ताहि निर्धार।'

ॐ 'वभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पतिः।"

हमारे दार्शनिक और साहित्यिक, भाव और चित्तवृत्ति को एक ही अर्थ में लेते हैं। किसी काव्य या अभिनय में आदि से अन्त तक जो भाव या चित्तवृत्ति स्थिर रहे उसे 'स्थायी' भाव कहते हैं। विभावादि इसी स्थायीभाव को पुष्ट करते हैं। पुष्ट होने पर यह स्थायीभाव ही रस कहलाता है।

## =लोकव्यापी भाव और काव्यव्यापी भाव

वास्तविक जगत् का भाव व्यक्तित्व प्रधान होता है। उसमें समाज पर प्रभाव डालने की शक्ति नहीं होती। इसके विपरीत जब यह भाव काव्य का विषय बन जाता है तो समष्टि का विषय होने से समूचे समाज पर प्रभाव डालने के लिये सशक्त हो जाता है। यही कारण है, काव्य का भाव स्थायी और सामूहिक प्रभाव डाल सकता है, सांसारिक भाव ऐसा करने में असमर्थ रहता है। वास्तव में काव्यगत भाव का आधार लोकगत भाव ही होता है, परन्तु प्रभाव में वह काव्यगत भाव की अपेक्षा एकदेशीय और निर्बल होता है।

हमारे यहाँ भरतमुनि की उपर्युक्त परिभाषा के 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर रस के विषय में निम्न चार आचार्यों ने चार भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्थिर किये हैं :—

---

=स्थायीभाव नवों रसों के नव है :—रति ( शृङ्गार का ) हास्य ( हास्यरस का ) क्रोध ( रौद्ररस का ) उत्साह (वीररस का) भय ( भयानक रस का ) जुगुप्सा या घृणा ( वीभत्स रस का ) विस्मय या आश्चर्य (अद्भुत रस का) और शोक (करुणा का) एवं निर्वेद ( शान्त रस का )।

क—भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद। +
ख—श्री शंकुक का अनुमितिवाद।
ग—भट्टनायक का भुक्तिवाद और
घ—अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद =

भट्टलोल्लट ने श्री भरत मुनि के संयोग का 'सम्बन्ध और निष्पत्ति का उत्पत्ति अर्थ किया है। आपके मत से विभावादि कारण एवं रस कार्य है। इसके अतिरिक्त आपने इस की स्थिति द्रष्टा में न मानकर नट में मानी है। नट वेषभूषा, वाणी चेष्टा आदि से उनका अनुकरण करता है जिससे प्रेक्षक या पाठक चमत्कृत होकर आनन्दित हो जाते हैं। यह मत मीमाँसा शास्त्र के अनुकूल है, परन्तु इस मत में कई आपत्तियाँ उठती हैं जो इस प्रकार हैं—

क—कार्य कारण भाव 'रस' के विषय में बन नहीं सकता क्योंकि नियमानुसार कारण के पश्चात ही कार्य सम्बन्ध होना चाहिये। किन्तु रस तभीतक रहता है तबतक कि कारणभूत विभावादि का प्रत्यक्षदर्शन होता रहता है। ऐसा होने से कार्य-कारण का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं बन पाता अतः इस सम्बन्ध में कार्य-कारण भाव मानना असंगत है।

ख—भाव सूक्ष्म होते हैं उनका अनुकरण नट के द्वारा

---

+ आस्वाद्यत्वाद्रसः रस का आस्वादन वैसे ही किया जाता है जैसे भोज्य और पेय पदार्थों का। भरतमुनि के अनुसार तो कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही नहीं चाहिये। कहा है—"न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

= सर्वमान्यवाद यही है। आधुनिकयुग के सभी विद्वान् इसी को वैज्ञानिक एवं पूर्ण मानते हैं।

असंभव है—अन्य के भावों का अनुभव करना यदि संभव हो तो भी उनका अनुभव जन्य अनुकरण तो असंभव ही है। ऐसी दशा में नट के भावानुकरण से द्रष्टाओं का चमत्कृत होना भी नहीं बनता।

इस प्रकार श्री लोल्लट महाशय के उत्पति वाद से असन्तुष्ट होकर श्री शङ्कुक ने अपना अनुमितिवाद निकाला। शङ्कुक का मत न्याय शास्त्र के आधार पर है। आपने भरत मुनि के निष्पति शब्द का अर्थ अनुमिति माना है आपके मत में विभावादि अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इसी बात को गम्य और गमक नाम से भी कहा जाता है। आपके मत से नायक के स्थायी भाव का विभावानुभावादि से, जिनको नट बड़ी कुशलता से अभिनय करके दिखाता है, नट में भी अनुमान कर लिया जाता है यद्यपि उसमें रसका अस्तित्व नहीं रहता। *चित्रतुरंग न्याय से प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और उस की मनोवृत्तियों का उसमें आरोप करके स्वयं आनन्दानुभव करता है। इस अनुमिति के विरुद्ध भी कई आक्षेप उठे। तब तीसरा मत लेकर यह नायक मत दम मंच पर आये।

(ग) भट्टनायक का रससिद्धान्त 'भुक्तिवाद' के नाम से विख्यात है। आपका कहना है कि रस की अवस्थिति अन्य व्यक्ति में है, और वह तटस्थ है ऐसी दशा में प्रेक्षक उससे प्रभावित नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि नायक के कृत्यों से यह बात संभव हो सकती है तब भी प्रेक्षक में रस का मानना सिद्ध नहीं होता। बात यह है कि विभावानुभाव जिनके द्वारा

* चित्र के घोड़े को लोग घोड़ा ही कहते हैं उसी प्रकार नायक के रूप को चित्रित करनेवाला नट भी नायक रूप ही दिखाई देने लगता है।

नायक प्रभावित होता है, नायक ही के सम्बन्ध में "विभावानुभाव हैं, प्रेक्षक के प्रसंग में नहीं। अतः भट्टनायक स्वयं प्रेक्षक के हृदय मे रस की स्थिति मानकर आगे आते हैं। आपके अनुसार स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियाँ काम करती हैं :—

क—अभिधा

ख—भावकत्व और

ग—भोजकत्व। 'अभिधा' द्वारा काव्य का सामान्य और आलङ्कारिक अर्थ जाना जाता है। 'भावकत्व' शक्ति के द्वारा विभावानुभाव आदि व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव के योग्य बन जाते हैं। व्यक्तित्व और देश काल आदि की विशेषताएं दूर हो जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि भट्टनायक ने भरतमुनि के 'संयोग' शब्द का सम्यक्योग एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भोग' माना है। अतः जिस क्रिया से इस प्रकार साधारणीकृत स्थायीभाव का रस रूप में भोग होता है उसे भट्टनायक 'भोजकत्व' शक्ति कहते हैं। इस भोग के द्वारा रजस्, तमस् गुण निवृत्त होकर सत्त्व की वृद्धि होकर आनन्द का प्रकाश होता है। यही आनन्द रस है जिसका भोग करते समय सार्वभौम चैतन्य जगत में ‡प्रवेश पा जाता है। इसी आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं।

## ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द

ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में इतना ही अन्तर है कि ब्रह्मा-

‡ इस स्थिति में द्रष्टा अपने में सार्वभौमता का अनुभव करता है, अपनी सत्ता को सार्वभौमता के समर्पण नहीं करता। 'भूमा वै सुखम्' की उक्ति के अनुसार रसावस्था में चित्तवृत्ति का विस्तार होता है, तिरोधान नहीं।

नन्द सांसारिक विषयों से विरक्त होने पर होता है, एवं काव्यानन्द साँसारिक विषयों से ही उद्भूत होता है। ब्रह्मानन्द स्थायी एवं काव्यानन्द क्षणिक होता है।

(घ) श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य को इस सिद्धान्त पर भी आपत्ति हुई। आपका कहना है कि भावकत्व तो भावों का मूल गुण ही है, फिर व्यर्थ इस शक्ति की कल्पना क्यों की जाय। आपके मतानुसार भावकत्व और भोजकत्व का काम व्यंजना-शक्ति या ध्वनि से चल जाता है अतः भट्टनायक की यह सूझ छात्र पर केवल बोझा मात्र है। भट्टनायक का सारा बंगला इन्हीं तीन शक्तियों की सूझ पर था, सो बात की बात में ढहा दिया जाता है। इस प्रकार भुक्तिवाद का खण्डन कर के अभिनव गुप्त अपने अभिव्यक्तिवाद के समर्थन में कहते हैं कि निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभावों के अनुभव द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है। आपका कहना है कि स्थायीभाव और चैतन्य आत्मा के योग से ही इस की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का ही नाम अभिव्यक्ति है। विभावानुभावादि व्यापार से चैतन्य निरावरित होकर स्थायीभाव के सीधे सम्पर्क में आजाता है। इसी क्षण और इसी चित्तस्थिति का नाम रसदशा है। धनंजय का मत लगभग अभिनवगुप्ताचार्य के ही अनुसार है, अन्तर इतना ही है कि उन्होंने *नट में भी रस माना है।

## मधुमति भूमिका

मधुमति भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की प्रतीति ही नहीं रह जाती, क्योंकि इनकी प्रतीति ही

* देखो लेखक कृत 'विचार-वैभव' का पृष्ठ ६३

वितर्क कहलाती है। जहाँ वस्तु, वस्तु सम्बन्ध और वस्तु सम्बन्धी इन तीनों में से केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे वितर्क रहित अवस्था या मधुमति भूमिका कहते हैं। इसी अवस्था का दूसरा नाम 'परप्रत्यक्ष' और इससे विपरीत अर्थात वितर्कयुक्त अवस्था का नाम 'अपरप्रत्यक्ष' है। अब वस्तु, वस्तु सम्बन्ध और वस्तु सम्बन्धी का एक उदाहरण देखिये :— "यह मेरा पुत्र है" इस वाक्य में—

| वस्तु | वस्तु सम्बन्ध | वस्तु सम्बन्धी |
|---|---|---|
| यह पुत्र | मेरा है | (मेरा) पिता |

पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक सम्बन्ध और जनक होने के नाते पिता सम्बन्धी इन तीनों की पृथक २ प्रतीति होती है। इस स्थिति का नाम 'अपरप्रत्यक्ष' है, पर जहाँ ये सब नष्ट होकर केवल पुत्र की पुत्र रूप से ममत्व रहित प्रतीति हो वहाँ पुत्र प्रत्येक सहृदय के आलम्बन का पात्र हो जाता है। व्यक्तित्व नष्ट होकर उसका ‡समष्टि से सम्बन्ध हो जाता है। इसी विस्तृत एवं वितर्क रहित मन की स्थिति का योगी लोग समाधि में अनुभव करते हैं। इसी भूमिका में पहुँच कर क्राँतदर्शी वैदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो मधु मत्पार्थिवं रजः।

‡ इस स्थिति को साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। कवि और सहृदय दोनों साधारण होते हुए भी भिन्न हैं। एक की प्रतिभा जनक विधान और दूसरे की ग्राहक होती है। अभिनव गुप्त पहिली को 'प्राख्या' और दूसरी को 'उपाख्या' कहते हैं। राजशेखर ने इन्हीं को कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा कहा है।

नन्द सांसारिक विषयों से विरक्त होने पर होता है, एवं काव्यानन्द साँसारिक विषयों से ही उद्भूत होता है। ब्रह्मानन्द स्थायी एवं काव्यानन्द क्षणिक होता है।

(घ) श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य को इस सिद्धान्त पर भी आपत्ति हुई। आपका कहना है कि भावकत्व तो भावों का मूल गुण ही है, फिर व्यर्थ इस शक्ति की कल्पना क्यों की जाय। आपके मतानुसार भावकत्व और भोजकत्व का काम व्यंजना-शक्ति या ध्वनि से चल जाता है अतः भट्टनायक की यह सूझ छात्र पर केवल बोझा मात्र है। भट्टनायक का सारा बंगला इन्हीं तीन शक्तियों की सूझ पर था, सो बात की बात में ढहा दिया जाता है। इस प्रकार भुक्तिवाद का खण्डन कर के अभिनव गुप्त अपने अभिव्यक्तिवाद के समर्थन में कहते हैं कि निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभावों के अनुभव द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है। आपका कहना है कि स्थायीभाव और चैतन्य आत्मा के योग से ही इस की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का ही नाम अभिव्यक्ति है। विभावानुभावादि व्यापार से चैतन्य निरावरित होकर स्थायीभाव के सीधे सम्पर्क में आजाता है। इसी क्षण और इसी चित्तस्थिति का नाम रसदशा है। धनंजय का मत लगभग अभिनवगुप्ताचार्य के ही अनुसार है, अन्तर इतना ही है कि उन्होंने *नट में भी रस माना है।

## मधुमति भूमिका

मधुमति भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की प्रतीति ही नहीं रह जाती, क्योंकि इनकी प्रतीति ही

* देखो लेखक कृत 'विचार-वैभव' का पृष्ठ ६३

वितर्क कहलाती है। जहाँ वस्तु, वस्तु सम्बन्ध और वस्तु सम्बन्धी इन तीनों में से केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे वितर्क रहित अवस्था या मधुमति भूमिका कहते हैं। इसी अवस्था का दूसरा नाम 'परप्रत्यक्ष' और इससे विपरीत अर्थात वितर्कयुक्त अवस्था का नाम 'अपरप्रत्यक्ष' है। अब वस्तु, वस्तु सम्बन्ध और वस्तु सम्बन्धी का एक उदाहरण देखिये :— "यह मेरा पुत्र है" इस वाक्य में—

| वस्तु | वस्तु सम्बन्ध | वस्तु सम्बन्धी |
|---|---|---|
| यह पुत्र | मेरा है | (मेरा) पिता |

पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक सम्बन्ध और जनक होने के नाते पिता सम्बन्धी इन तीनों की पृथक २ प्रतीति होती है। इस स्थिति का नाम 'अपरप्रत्यक्ष' है, पर जहाँ ये सब नष्ट होकर केवल पुत्र की पुत्र रूप से ममत्त्व रहित प्रतीति हो वहाँ पुत्र प्रत्येक सहृदय के आलम्बन का पात्र हो जाता है। व्यक्तित्व नष्ट होकर उसका ‡समष्टि से सम्बन्ध हो जाता है। इसी विस्तृत एवं वितर्क रहित मन की स्थिति का योगी लोग समाधि में अनुभव करते हैं। इसी भूमिका में पहुँच कर क्राँतदर्शी वैदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः
सन्तोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो मधु मत्पार्थिवं रजः।

---

‡ इस स्थिति को साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। कवि और सहृदय दोनों साधारण होते हुए भी भिन्न हैं। एक की प्रतिभा जनक विधान और दूसरे की ग्राहक होती है। अभिनव गुप्त पहिली की 'प्राख्या' और दूसरी को 'उपाख्या' कहते हैं। राजशेखर ने इन्हीं को कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा कहा है।

मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः । ऋ० १ । ९० । ६

जिस मधुमति भूमिका तक साधना के बलपर कोई योगी पहुँचता है उसी भूमिका तक प्रातिभज्ञान सम्पन्न सत्कवि स्वभावतः ही पहुँच जाया करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि कवि वहाँ न जाकर योगी की भांति स्थिर नहीं रह सकता। जहाँ उसके रजस् और तमस् उभरे नहीं कि वह नीचे उतर पड़ता है।

## *अपूर्णरस

अब तक रस परिपाक की बात चली। अब यह देखना है कि कई बार रस पक्वता को नहीं पहुँचता, और कुछ २ उसका आस्वादन भी होता है यह क्या बात है ? इस मनस्थिति को समझने के लिये पहिले उन चार अवस्थाओं का समझना आवश्यक है जिनमें यह रस की अर्द्ध-पक्वता अनुभव में आती है। ये अवस्थाएँ इस प्रकार होती हैं:—

क—केवल जहाँ भाव अङ्कुरित होकर ही रहजाता है, आगे बढ़कर तीव्र नहीं होने पाता ;

ख—जब एक भाव के उदय होते ही दूसरा भाव उदय होकर उससे प्रबल होजाता है, और उसे दबा लेता है ;

ग—जब एक भाव मनको एक ओर खींचता है और दूसरा दूसरी ओर, और दोनों में से कोई इतना प्रबल नहीं होता कि किसी को कोई दबा सके।

घ—जब कई भाव एक साथ उदय होते हैं, या एक-एक करके

---

*यद्यपि अपूर्ण रस को मानना युक्तियुक्त नहीं ; पर रूढ़ि के ऐसे स्थल भी सरस होने से अपूर्णावस्था की कोटि में लिये जाते हैं।

कई भाव उदय होते व पूर्वोत्थित भाव को दबाते चलते हैं।

(क) अवस्था को भावोदय की अवस्था कहते हैं, (ख) अवस्था को भावशान्ति, (ग) अवस्था को भावसंधि और (घ) अवस्था को भाव-शबलता की अवस्था कहते हैं।

## रस-विरोध

नौ रसों में कुछ रस ऐसे हैं, जो आपस में विरोधी माने जाते हैं। निम्न तालिका में यह विरोध स्पष्ट किया है:--

| | विरोधीरस |
|---|---|
| १ शृङ्गार-- | १-करुण |
| | २-बीभत्स |
| | ३-रौद्र |
| | ४-वीर |
| | और ५-भयानक |
| २ हास्य— | १-करुण |
| | और |
| | २-भयानक |
| ३ करुण-- | १-हास्य |
| | और |
| | २-शृङ्गार |
| ४ रौद्र-- | १-हास |
| | २-शृङ्गार |
| | ३-भयानक और |
| | ४-अद्भुत |
| ५ वीर— | १-भयानक |

| | |
|---|---|
| | और |
| | २-शान्त |
| ६ भयानक— | १-श्रृङ्गार |
| | २-वीर |
| | ३-रौद्र |
| | ४-हास और |
| | ५-शान्त |
| ७ वीभत्स— | १-श्रृङ्गार |
| ८ अद्भुत— | १-रौद्र |
| ९ शान्त— | १-श्रृङ्गार |
| | २-वीर |
| | ३-रौद्र |
| | ४-शान्त |
| | ५-भयानक |

यह विरोध हर जगह दोष नहीं होता, दोष वहीं होता है जहाँ ये एक ही आलम्बन या एक ही आश्रय से सम्बन्ध रखते हों, या इतने पास र रहें कि एक दूसरे के प्रभाव को बाधा पहुँचाते हों। इन विरोधों के परस्पर अनुकूल व प्रतिकूल पड़ने के उदाहरण 'रस गङ्गाधर' ग्रन्थ में अच्छे दिये गये हैं।

---

( ७ )

## शैली का विवेचन

काव्य का विवेचन करते हुए हमने उसके दो पक्ष बतलाये थे। एक भाव पक्ष, और दूसरा कलापक्ष। भावपक्ष का पूर्ण विवेचन 'रस' के साथ हो चुका। अब शैली नाम से काव्य के कलापक्ष पर विचार किया जाता है। शैली का ही दूसरा नाम 'रूप चमत्कार' है। शैली के अन्तर्गत शब्द-योजना, वाक्यों का प्रयोग बनावट और उनकी ध्वनि आदि का समावेश हो जाता है। इसी कारण काव्य की रस रूप आत्मा के लिये शैली एक प्रकार का शरीर है। कुछ लोग काव्य और शैली का शरीर और परिधान का सम्बन्ध लगाते हैं। परन्तु, परिधान-सम्बन्ध से शैली का अस्तित्व अस्थिर सा रह जाता है। वास्तव में बात यह है कि विचार विचारक से भिन्न नहीं होते वैसे ही उन विचारों को व्यक्त करने की पद्धति (शैली) भी उनसे अलग नहीं हो सकती। इसी कारण शैली विचारों का व्यक्त स्वरूप माना जाता है।

भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे मन में ही उत्पन्न होकर लीन हो जायं, और उनका व्यक्तिकरण न हो सके तो संसार को उनसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इसी से कवि अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अन्य पर व्यक्त करना चाहता है, और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। यह व्यापार ही साहित्य शास्त्र का

मूल है। इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि मनुष्य की भावाभिव्यञ्जना शक्ति का ही नाम शैली है।

### (क) बुद्धि और संकल्प

समझना बुद्धि का काम है, और प्रवर्त्त होना या करना 'संकल्प' का यद्यपि इन दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न भिन्न है फिर भी ये दोनों ही एक दूसरे के सहायक भी हैं। इन दोनों ही तत्त्वों की सहायता से वर्णन, कथन और प्रतिपादन का काम सम्पन्न होता है। शैली की विशेषता इसी में है कि इन उपर्युक्त तीनों कामों को पूरा करने में समर्थ हो सके।

### (ख) भाषा और शब्द

बलिष्ठ भाषा ही भावाभिव्यक्ति में सफल होती है। भाषा में बल आता है शब्दों से। भाषा ऐसे सार्थक-शब्द-समूह का नाम है जो एक सेव्यवस्थित क्रम से हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने में समर्थ हो सके। इन शब्दों के उपयोग करने के कौशल को ही शैली का मूलतत्त्व समझना चाहिये।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। पर ये तीनों ही गुण शब्द में उस समय तक विकास नहीं करते जब तक कि शब्द का वाक्य में सुचारु रूपेण प्रयोग न किया जाय।

इसीलिये शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

### (ग) वाक्यों के प्रकार और विशेषता

वाक्य-रचना का लेखक को बहुत बड़ा ध्यान रखना चाहिये वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार बतलाये हैं :—

क— वाक्योच्चय वाक्य और

ग—समीकृत वाक्य।

वाक्योच्चय वाक्य में अर्थ या भाव की समाप्ति पर्यन्त विराम नहीं आता। इस वाक्य के द्वारा वक्ता प्रभाव करने में अधिक सफल होता है। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के शृंखला की रक्षा की जाती है, और साथ ही सुखद विस्मय भी उत्पन्न किया जाता है।

लेखक को वाक्यों की विशेषता की ओर सदा ध्यान रखना चाहिये। भाषा की प्रौढ़ी, शब्दों का विश्लेषणात्मक प्रयोग, अवधारण का स्थान (अर्थात् वाक्य की किस बात पर लेखक को अधिक जोर देना है आदि का विशेष विचार रखना कुशल लेखक की कसौटी है। अवधारण को आदि या अन्त में रखने से वाक्य में स्पष्टता आजाती है, और उसमें माधुर्यगुण का स्वतः ही समावेश हो जाता है।

## भारतीय शैली के आधार और पाश्चात्य शैली के गुण

भारतीय शैली के मुख्य अङ्ग हैं—‡अभिधा, लक्षणा,

---

‡ शब्द की वाच्यार्थ विज्ञापिका शक्ति को अभिधाशक्ति कहते हैं। यह शब्द के मुख्य अर्थ को बतलाती है, और तीनों शब्द शक्तियों में पहली है। शब्द में एक अर्थ बहुलता नाम की भी शक्ति होती है। यह चार प्रकार से उत्पन्न होती है:—

(१) सान्निध्य से, (२) संयोग से, (३) स्थल भेद से और (४) काल भेद से। यथा—मोती के मूल्य क क-ापार है और मोती छात्र बड़ा नटखट है। इन दोनों वाक्यों में 'मोती' शब्द एक जगह बहुमूल्य पदार्थ का द्योतक है, दूसरे वाक्य में व्यक्ति-विशेष का परिचायक। यह भेद अन्य शब्दों की संगति से होगया है। इसके अतिरिक्त 'कमल पर मधुकर गुंजार रहा है। इस वाक्य में कमल के साहचर्य से 'मधुकर' का अर्थ भँवर ही होगा मधु-

व्यञ्जना आदि वृत्तियाँ, ओज, प्रसाद और माधुर्यादि गुण, अलङ्कार और वृत (छन्द)। प्राचीन आचार्यों ने शैली के इन्हीं गुणों का ऐसा वैज्ञानिक विभाजन किया है कि पश्चिम वालों की अपेक्षा यह अधिक संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ता है, क्योंकि हमारे यहाँ इन गुणों को एवं शब्दार्थों या अलङ्कारों को 'रस' के उत्कर्षक कह कर तथा 'रस' को काव्य का आत्मा कह कर भावों को मूल में इसी के आधार मानकर इस विषय को सुन्दर बना दिया है; पर पाश्चात्य लोगों ने शैली के गुण दो ही माने हैं :—

क—प्रज्ञात्मक और

ख—रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में लोग प्रसाद, स्पष्टता को, और रागात्मक में करुण, हास, और शक्ति को स्थान देते हैं। यह विभाजन, किन्तु, अधूरा अवैज्ञानिक एवं असगत ही है। पाश्चात्यों ने शैली के अङ्गों में शब्द-चयन और वाक्य-रचना को प्रधानता देकर उसके दो भेद और कर दिये हैं।

क—भवपत्त, और

ख—कलापत्त। भावतत्त्व को वे काव्य का भीतरी चमत्कार मानते हैं, और कला-पत्त को वाहिरी सजावट। हमारे भारतीय आचार्यों ने भाव पत्त में 'रस' और कलापत्त में वृत्त, शक्तियाँ, अलङ्कार, काव्य के प्रकार--मुक्तक, प्रवंध, खण्ड, गद्य, गीति, आदि सभी का समावेश कर दिया है। इस प्रकार शैली के पाश्चात्य और प्राच्य अङ्ग केवल नाममात्र से भिन्न है, वास्तव में दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

---

सकती नहीं। इसी प्रकार, देश (स्थल) वा काल के अन्तर से भी शब्दों के अर्थ में अन्तर होजाया करता है।

## अलंकारों का स्थान ?

अलङ्कार भाषा-सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते हैं, और इसीलिये काव्य के आत्मा 'रस' को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कह सकते हैं। सुन्दर शरीर पर अलङ्कार धारण किये जायं तो वह और भी सुन्दर हो सकता है, किन्तु, उसके सहज सौन्दर्य के लिये अलंकारों की अनिवार्यता नहीं है, वैसे ही काव्य में 'रस' जो काव्य का अन्तरात्मा है, काव्य का सहज सौन्दर्य है, अलङ्कार तो केवल उस सौन्दर्य के उत्कर्ष होने से गौण ही रहते हैं।

इसके विरुद्ध जब हम अलङ्कारों को शैली या शैली का अङ्ग मान लेते हैं, तब अलङ्कार काव्य के केवल अस्थिर धर्म मात्र ही नहीं रहजाते हैं। अलङ्कार की सहायता से कवि अपने मनोगत भाव को जीवित रूप में पाठक तक पहुँचाकर उसके हृदय में चमत्कार ( रस ) उत्पन्न अर्थात् जागरित करता है।

हमारी प्रज्ञा-शक्ति हमें तीन भिन्न २ रूपों से प्रभावित करती है—

---

जहाँ मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का बोध होना हो, और मुख्यार्थ से कुछ न कुछ सम्बन्धित एक अन्य अर्थ निकलता हो वहाँ शब्द की दूसरी शक्ति 'लक्षणा' होती है। यथा-'ऐसे उल्लुओं को यदि स्वयं बृहस्पति भी आकर समझावें तो वह नहीं समझ सकते' इस वाक्य में 'उल्लू' शब्द से उल्लू की तरह मूर्ख या नासमझ व्यक्ति अभिप्रेत है न कि अभिधा द्वारा संकेतित पक्षि विशेष। यह मुख्यार्थ का बाध है, परन्तु उल्लू शब्द के वाच्यार्थ से मूर्ख का अर्थ भी सम्बन्धित है, अतः यहाँ लक्षणा है। लक्षणा के भेदः—(क) रूढ़ी और प्रयोजनवती (ख) लक्षणलक्षणा और उपादान लक्षणा (ग) गौणी और शुद्धालक्षणा आदि हैं।

क—साम्य मूलक रूप में
ख—विरोध मूलक रूप में और

१-रूढ़ी—वहाँ होती है जहाँ मुख्यार्थ से भिन्न कोई अर्थ परम्परा से नियत होगया हो। यथा-'करहिं तुखार पवन सों रीसा, कंध ऊँच असवार न पीसा'-जायसी। यद्यपि तुखार एक देश का भी नाम है, पर यहाँ रूढ़ी से घोड़े का ही अर्थ लिया जारहा है।

२-प्रयोजनवती—वहां होती है जहां किसी प्रयोजन से शब्द के नियत अर्थ को न लेकर अन्य अर्थ लिया जाय। यथा-अमुक ग्राम तो पानी में ही बसा है, फिर क्यों न बीमारी रहे। यहाँ अभिधा का अर्थ संगत नहीं, क्योंकि पानी में ग्राम बसता नहीं अतः शीतलता में बसने का अर्थ लिया जायगा। इस लक्ष्यार्थ में है सील की अधिकता। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

३-लक्षण लक्षणा और उपादान लक्षणा- लक्षण लक्षणा वहाँ होती है जहाँ लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का बिल्कुल भी सम्बन्ध न रहे। इसीका दूसरा नाम 'जहत स्वार्था' भी है। यथा-गंगा में गांव है, यहां गंगा में का अर्थ बिल्कुल छूट गया है, और निकटता का अर्थ लेलिया गया है। उपादान लक्षणा में वाच्यार्थ अङ्गरूप से लक्ष्यार्थ के साथ लगा रहता है। इसे 'अजहत स्वार्था' भी कहते हैं। यथा-सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है' यहाँ साधुता और खलई गुण है, वे सोच व हुलस नहीं सकते। अतः साधुता और साधु, खलई और खल का एक दूसरे से सर्वथा विच्छेद नहीं होता, इसी कारण यह अजहत स्वार्थी या उपादान लक्षणा है।

४-गौणी और शुद्धा लक्षणा—गौणी वहाँ होती है जहाँ समान धर्म द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है। यथा-'पुरुषसिंह है'

ग—सान्निध्य मूलक रूप में। इस विभाग के आधार पर पहिले अलङ्कारों की उक्त तीन श्रेणियाँ हैं।

---

यहां सिंह की समता पुरुष को दीगई है, इसीसे गौणी लक्षणा है. गौणी दो प्रकार की होती है। सारोपा और साध्यवसाना। सारोपा में उपमेय-उपमान दोनों रहते हैं। साध्यवसना में केवल उपमान का ही कथन होता है।

४-शुद्धा – में समता से अन्य किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होतीहै। 'यथा पानी, में घर' इस वाक्य में पानी के तट का अर्थ लेना शुद्धा है।

## व्यंजना शक्ति

जहां अभिधा और लक्षणा दोनों शक्तियाँ अर्थाभिव्यक्ति में असफल रहे वहां शब्द की तीसरी शक्तिव्यंजना का प्रयोग होता है। व्यंजना पहले दो प्रकार को होती है-शाब्दी और आर्थी। जहाँ व्यंग्यार्थ शब्द विशेष में रहे वहां शाब्दी और जहाँ व्यंग्यार्थ विशेष शब्दावलम्बी न हो वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। पुनः व्यंजना दो प्रकार की होती है- लक्षणामूला और अभिधामूला। पुनः उसके तीन भेद हैं-वस्तु-व्यंजना, अलंकार व्यंजना और भाव व्यंजना।

## ध्वनि

शब्द के अन्तिम चमत्कार को ध्वनि कहते हैं व्यङ्ग के प्राधान्य को नाम ध्वनि है। ये द्विधा होती है:—क-संलक्ष्य-क्रम और ख—असंलक्ष्य-क्रम। संलक्ष्यक्रमध्वनिवहाँ होती है जहां एक क्षण ठहर कर व्यङ्गयार्थ पर पहुँचा जाता है, और असंलक्ष्य क्रमध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ पर ठहरना ही न पड़े। भाव व रस व्यंजना इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं।

हम अलंकार को रचना का चमत्कारोत्पादक तत्त्व मानते हैं। चमत्कार शब्द और अर्थ दोनों में रह सकता है। इसी से अलंकार के पुनः दो भेद और माने गये हैं:—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। जहाँ चमत्कार निश्चित रूप में रहता है वहाँ एक तीसरा भेद 'उपमालंकार' के नाम से और भी माना जाता है। यह रचना-चमत्कार ही काव्य के भाव चमत्कार (रस) का उत्कर्षक एवं वाहक है। अतः हमारे मत से यह (अलंकार) अस्थिर धर्म नहीं, अपितु आवश्यक तत्त्व है। हाँ, केशव कवि की भाँति अलंकार के द्वारा काव्य को लाद कर उसके नैसर्गिक-सौंदर्य को नष्ट करना अवश्य ही त्याज्य एवं हेय है, पर इससे अलंकार का महत्त्व कम नहीं हो सकता, प्रयोग कर्ता की बुद्धि का दोष है यह तो कि वह उसे ठीक-ठीक उपयोग में नहीं ला सकता। इस विवेचन के पश्चात् अब हम कह सकते हैं कि वर्णनशैली के चमत्कारोत्पादक ढंग का नाम ही अलंकार है। जहाँ अलंकार को वर्णन का साधन न मानकर स्वयं को व्यर्थ विषय बना लिया जाता है, वहाँ अलंकार काव्य के लिये दोष बन जाता है।

## पद-विन्यास

पद-विन्यास से तात्पर्य है वाक्य-समूह से। इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

क—वाक्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध तथा संक्रमण, और

ख—भावों में क्रमशः विकास या परिवर्त्तन। इन दोनों बातों के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोग की आवश्यकता है।

## वृत्त

वृत्त से संगीतात्मकता आती है। वृत्त दो प्रकार हो होते हैं:-

क—मात्रिक, और

ख—वर्णमूलक।

मात्रिकवृत्त छन्द कहलाते हैं, इनमें मात्राओं की समता का विचार रखा जाता है। वर्णिक छन्दों को 'वृत्त' कहते हैं, इनमें अक्षरों की गणना या समता का ध्यान रखा जाता है। हिन्दी में इस समय वृत्त, छन्द और स्वतन्त्र छन्द तीन प्रकार के वृत्त (छन्द) चल रहे हैं। वृत्त में दीर्घ-ह्रस्व *(गुरु-लघु) के साथ २ यति, विश्राम या विराम आदि का भी विचार रखना आवश्यक है। छन्द (मात्रिक छन्द) में मात्राओं की गणना के साथ यति आदि का विचार रखा जाता है।

## वृत्त (छन्द) के दो प्रकार

छन्द दो प्रकार के होते हैं—

क—सतुकान्त, और

ख—भिन्नतुकान्त या अतुकान्त।

भिन्नतुकान्त छन्द, वृत्त कहलाते हैं, और संस्कृत में ही उनका प्रयोग हुआ करता था, परन्तु, आजकल हिन्दी में भी ऐसे वृत्त खूब चल रहे हैं।

---

*वर्णवृत्तों में गुरु-लघु के नियम से गणों का विचार होता है। गण आठ हैं:—

मगण, यगण, भगण, सगण, तगण, रगण, नगण, जगण आदि। पिङ्गल शास्त्र में इस विषय पर पूर्ण विवेचना किया गया है।

## उपसंहार

रचना शैली में मुख्य ध्यान देने की बात यही है कि जहाँ तक हो भाषा सरल, प्रभावोत्पादक एवं विषयानुसारिणी रहे। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना, और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में यह बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

---

## साहित्य की आलोचना

किसी साहित्यिक रचना को पढ़कर उसके गुण-दोषों का विवेचन करना, और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना ही 'आलोचना' कहलाती है। यह आलोचना किसी ग्रन्थ विशेष की भी हो सकती है, और आलोचना की भी आलोचना हो सकती है।

### आलोचना का कार्य

आलोचना से दो काम होते हैं:—

क—कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या करना, और

---

इन गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट भी तीन प्रकार की होती है। इस बनावट भेद को वृत्ति कहते हैं— मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा, ये तीनों वृत्तियाँ हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर तीन रीतियाँ बनी हैं। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। रीतियों के नाम देशों के नाम पर हैं। तीनों गुण व उनके अनुसार वृत्ति, रीति व रसों का सामंजस्य भारतीय शैली की विशेषता है। यथा—माधुर्यगुण के लिये मधुरावृत्ति, वैदर्भी रीति, शृंगार, करुण और शान्तरस। ओजगुण के लिये परुषा-वृत्ति, गौड़ी रीति, वीर, रौद्र, वीभत्स रस। प्रसाद के लिये प्रौढ़ा वृत्ति, पांचाली रीति और शेष सभी रस।

ख—आलोच्य ग्रन्थ के विषय में अपना मन स्थिर करना।

बहुधा देखा जाता है आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते हैं।

## आलोचना का उद्देश्य

पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना आवश्यक है कि अमुक ग्रन्थ में जो-जो बातें बतलाई गई हैं, वे ठीक हैं, या नहीं ? यह प्रश्न अन्य शास्त्रों के सम्बन्ध में उतना प्रबल नहीं होता जितना साहित्यिक रचनाओं के सम्बन्ध में। इसका कारण यही है कि साहित्य का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है, इन बातों के तथ्य की ओर मानव-स्वभाव स्वतः ही जाना चाहता है। फिर जीवन-व्याख्या के सम्बन्ध में आलोचक की सम्मति हमारे बड़े काम की होती है। कैसी पुस्तक पढ़नी चाहिये, कैसी नहीं, इन सब बातों का पता आलोचना से ही लगता है। आलोचना का उद्देश्य सारतः सत् साहित्य को प्रोत्साहन देना, और असत् साहित्य को हतोत्साहित करना है।

## आलोचना का इतिहास

आलोचना का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है। वैसे तो जब से साहित्य की सृष्टि हुई तभी से आलोचना की भी सृष्टि हुई है। आलोचना तो मानव-सृष्टि का स्वभाव है, परन्तु हिन्दी साहित्य में इसका जन्म भारतेन्दु के समय से ही हुआ है। उपन्यास की भाँति किन्तु, इसका विकास द्वितीयोत्थान काल में ही हुआ है। सर्व प्रथम विस्तृत आलोचना का मार्ग आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी व चौधरी बदरीनारायणजी ने ही निकाला। मिश्रबन्धु व पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढंग से कुछ

प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं, परन्तु, उनमें समालोचना का बहिरङ्ग ही पनपा उसकी आन्तरिक वृद्धि नहीं हुई। सब से पहिले आलोचना हिन्दी में संस्कृत की गुण दोष विवेचनात्मक प्रणाली के ढंग में ही आई थी। धीरे २ उसका विकास हुआ। मिश्रबन्धुओं ने तुलनात्मक आलोचना की ओर भी 'देव और बिहारी' लिखकर, कदम उठाया। तृतीयोत्थान के साथ २ पश्चिमी प्रभाव से हमारा साहित्य भी प्रभावित हुआ। आलोचना क्षेत्र भी स्थायी साहित्य निर्माण की दृष्टि से कुछ व्यापक हुआ। इस युग में आलोचना का अध्ययन कर के लोगों ने उसे दो भागों में बाँटा :—

क—निर्णयात्मक, और

ख—व्याख्यात्मक। किसी-किसी ने उसके सैद्धान्तिक व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक और स्वतन्त्र नाम से चार भेद भी किये हैं, समालोचना में चारों ही का लगभग मिश्रण सा रहता है। आधुनिक समालोचना की यह विशेषता है कि वह विस्तृत, सार्वदेशिक और सर्वकालीन साहित्य को ही लेकर चलती है। इसका परिणाम यह होता है कि साहित्य के विस्तार के साथ २ साहित्याभिरुचि भी प्रगतिशील हो गई है। वैसे सैद्धान्तिक आलोचना का रूप ही चिरंतन रूप है।

## कुछ आधुनिक युग के आलोचक

रामचन्द्र शुक्ल ( मृत ), बा० श्यामसुन्दरदास ( मृत ) श्रीकृष्णशंकर ( जीवित ), श्री जनार्दन (जी), श्री सत्येन्द्र (जी), श्री रामनाथ ( जी ) श्री रामकृष्ण शुक्ल ( जी ), श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ( जी ) श्री कालीप्रसाद ( जी ), श्री हेमचन्द्र जोशी ( जी ) आदि २।

## आलोचक के गुण

आलोचक का दायित्व बहुत बड़ा होता है। आलोचक को एक वकील की भाँति नहीं बल्कि एक न्यायाधीश की भाँति कार्य करना चाहिये। सत्आलोचना की दृष्टि से आलोचक के लिये कुछ आवश्यक गुणों की आवश्यकता है। ये गुण इस प्रकार हैं:—

(क) आलोचक-को विद्वान, बुद्धिमान, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिये।

(ख) उसमें आलोच्य ग्रन्थ के पूर्ण अध्ययन की क्षमता होनी चाहिये।

(ग) ग्रन्थकार के प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं भक्ति नहीं तो सहानुभूति अवश्य होनी चाहिये। राग-द्वेष से उसे सर्वथा रहित रहना चाहिये।

(घ) गंभीरता, धैर्य और वास्तविक प्रेम की आलोचक को परमावश्यकता है।

क—वर्ग में उल्लिखित गुण तो प्रायः बहुत से ‡समालोचकों को प्राप्त होजाते हैं, किन्तु, राग-द्वेष या पक्षपात से बहुत ही कम लोग बच पाते हैं। निष्कर्ष रूप में यही कहना पर्याप्त है कि समालोचना एक प्रकार की कला है, काव्य यदि जीवन की आलोचना है तो समालोचना उस आलोचना की आलोचना होने से बड़े भारी दायित्व का कार्य है। इसी कारण समालोचना के लिये विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता है।

‡ अंग्रेजी भाषा का आदरणीय एवं प्रसिद्ध आलोचक' 'जानसन' स्वयं रागद्वेष के दोष से मुक्त न था। 'वेएडिसन' का सदा समर्थन करते रहे और मिल्टन का सदा तिरस्कार!

## आलोचना और आलोचक का मत

बहुधा लोग पुस्तकों की उत्तमता की कसौटी अपना मत ही समझते हैं, और रुचि वैचित्र्य का कोई मूल्य ही नहीं आंकते। विचार सम्बन्धी संकीर्णता और दुराग्रह जहां समाजाते हैं वास्तविक मत से आलोचक बहुत दूर जापड़ता है, यही कारण है कि किसी पुस्तक के विषय में अपना मत प्रकट करने के लिये उसे हमें कई बार पढ़ना चाहिये ताकि हम उसके मूलभाव तक पहुँच सकें। इसके विपरीत यदि आलोचक अपनी रुचि को सर्वोपरि मान कर अपना मत स्थिर कर लेता है तो फिर निश्चय ही समझ लेना चाहिये कि वह किसी ग्रन्थ की आलोचना करने का अधिकारी नहीं है।

## आधुनिक आलोचना और प्राचीन आलोचना

आधुनिक आलोचना और भारत की प्राचीन आलोचना में समन्वय या एक प्रकार की अभेदता हीहै। यदि ध्यान से देखा जाय, आजकल आलोचना से यूनान और रोम की आलोचना का अर्थ लिया जाता है। यही कारण है कि प्रायः अनेक विद्यार्थी भारत की आलोचना पद्धति को प्राचीन आलोचक के नाम पर अपूर्ण और अनुपयुक्त समझते है। यदि वे अलङ्कार, रीति, गुण, रस, ध्वनि आदि की आलोचना के ग्रन्थों को पढ़ें तो उन्हें स्पष्ट विदित होजायगा कि भारत में साहित्य का कितना विशद अध्ययन हुआ है! सिद्धान्त के विषय में तो भारत से आगे अभी तक कोई देश नहीं जा सका है। हमारे काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, साहित्य दर्पण और रसगङ्गाधर सब सिद्धान्त ग्रन्थ ही तो हैं। आज यदि भारत इन ग्रन्थों को समझ कर इनका उपयोग युगानुरूप करे तो भारतीय आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र की एक अनोखी निधि सिद्ध हो

सकती है और सैद्धान्तिक आलोचना ही आलोचना का चिरंतन रूप भी है। ऐसी दशा में आधुनिक आलोचना भारतीय आलोचना से दूर की वस्तु नहीं रह जाती है, हाँ, केवल दृष्टिकोण मात्र का अन्तर अवश्य है। वैसे आधुनिक आलोचना का आरम्भ अरस्तू ने किया था। उसीने वस्तु, चित्र, भाव और भाषा आदि के शास्त्रीय नियम बनाकर आलोचना का पथ-प्रदर्शन किया था।

## आलोचना के प्रकार

साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण करने लगता है तब समालोचना का जन्म होता है। साहित्य मानव के भावों, विचारों और अनुभूतियों का भण्डार है। आलोचना को भी इस नाते साहित्य में स्थान प्राप्त होजाता है। आलोचना साहित्य का एक आवश्यक अंग भी है। जिस साहित्य में आलोचना का अंग न हो उसे अधूरा समझना चाहिये। आधुनिक आलोचना के *चार प्रकार हैं:—

क-सैद्धान्तिक समालोचना

ख-व्याख्यात्मक समालोचना

ग-+निर्णयात्मक समालोचना और

घ-स्वतंत्र-समालोचना

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है। व्याख्यात्मक आलोचना में रचनाओं की व्याख्या और विश्लेषण होता है।

---

क—( Speculation criticism )
ख—( Inductive criticism )
ग—( Judicial criticism )
घ—( Subjective or free criticism )

+हमारे यहाँ की टीकाऐं निर्णयात्मक समालोचना की कोटि में जाती हैं।

निर्णयात्मक आलोचना में सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्त्व का निर्णय किया जाता है। स्वतंत्र आलोचना आत्मप्रधान होती है। इसमें आलोचक आलोच्य विषय में तल्लीन होकर भाव लहरी में बह जाता है। ऐसी आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य की कृतियाँ बनजाती हैं।

## आलोचना का स्थूल विभाजन

समालोचना का एक स्थूल विभाजन और भी हो सकता है। इस विभाजन के अनुसार:—

(क) शुद्ध सिद्धान्त, और

(ख) उसका प्रयोग, ये दो विभाग होते हैं। शुद्ध सिद्धान्त के वर्ग में काव्य मीमांसा, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि संस्कृत के ग्रन्थ आते हैं, एवं प्रयोग वर्ग में हिन्दी के 'जायसी', 'कबीर', 'तुलसीदास' आदि पर लिखी हुई स्वतंत्र समालोचनाएँ आती हैं।

## आलोचना पर एक व्यापक दृष्टि

इतने विवेचन के पश्चात् आलोचना के सम्बन्ध में तीन बातें और रह जाती हैं:—

(क) आलोचना की वैज्ञानिक प्रक्रिया

(ख) आलोचना की ऐतिहासिक समीक्षा और

(ग) उसकी वर्त्तमान गतिविधि।

सर्व प्रथम आलोचक को किसी भी विषय की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन करना चाहिये। किसी विषय के वैज्ञानिक विवेचन का उसके इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, अतः आलोचना करते हुये आलोच्य विषय का इतिहास पक्ष भी नहीं छोड़ा जासकता है। एक प्रकार से वैज्ञानिक प्रक्रिया के ही हम

निम्न दो भेद कर सकते हैं:—

(क) तुलना, और

(ख) इतिहास। आलोचना वैज्ञानिक तभी होती है जब उसकी भित्ती तुलना और इतिहास के आधार पर उठाई जाती है। समालोचना एक तुला है। देश २ की यह तुला भिन्न २ हो सकती है, क्योंकि सभ्यता, संस्कृति और इनके आधार पर बनने वाला साहित्य एकसा नहीं होसकता। तुलना और इतिहास के साथ ही साथ आलोचक को उक्त देशकाल एवं तज्जन्य मानव आदर्श की भिन्नता का सदा ध्यान रखना चाहिये तभी आवश्यकता पड़ने पर व एक मानव-आदर्श के सहारे विश्व रुचि की प्रस्थापना करने में समर्थ होसकता है।

## विश्वरुचि और साधारणीकरण

अब जगत् का पारखी कवि जब साधारणीकृत होकर कुछ रचता है तब उसकी कृति विश्वभर की सम्पत्ति होजाती है। कवि के साधन, देशकाल से परिबद्ध रहते हैं तथापि उन साधनों के भीतर एक सामान्य प्रकाश अनुस्यूत रहता है, इसी सामान्यता को परखना समालोचक और सहृदय दोनों का काम है। इस सामान्यता के तथ्य को खोज निकालने वाला आलोचक 'गुणी' व अपनी कला का पंडित कहलाता है।

## *हिन्दी आलोचना

हिन्दी आलोचना की दशा विचित्र है। हिन्दी आलोचना में शब्द संस्कृत के एवं उनमें व्यवहृत होने वाले संसर्ग और भाव

*हिन्दी आलोचना के चार रूप चल रहे हैं:—इतिहास, तुलना, भूमिका और परिचय।

तीन समुद्र तेरह नदी पार पश्चिम के होते हैं। इन से परिणाम यह होता है कि संस्कृत शब्दों में युगीन एवं नवीन परिस्थितियों के अनुरूप कुछ नये नये अर्थों का भी समावेश होजाता है। यथा अंग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' के दो अर्थ—रसात्मक साहित्य और साहित्यमात्र होते हैं। इसीप्रकार हिन्दी में भी इसी व्यापक अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग होने लगा है, जबकि संस्कृत में 'साहित्य' केवल 'काव्य' का ही पर्याय रहा है।

## साहित्य में रूढ़ी त्याग से हानियाँ

कुछ लोगों का कहना है कि कवि और कलाकार स्वच्छन्द, निरंकुश, 'सर्वमात्मवशं सुखम्' के सिद्धान्त को मानने वाले होतेहैं, परन्तु 'इस स्वच्छन्दता में स्वयं से एक बन्धन है जिसे भारतीय कलाकारों ने तो पहिचाना और माना भी है' परन्तु पश्चिम ने इसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं किया। इसी कारण आज यूरोप में बड़ी गड़बड़भाला मची हुई। प्रत्येक कलाकार और कवि अपने अपने सिद्धान्तों, लक्ष्यों और नियमों की व्याख्या करने को बाध्य है यदि वह ऐसा नहीं करता तो आलोचक उसके पीछे पड़कर उसे ऐसा करने को विवश करदेता है। अब सोचने की बात है कि रूढ़ियों के त्याग से स्वच्छन्दता कहाँ प्राप्त हुई, जब हर एक कवि और कलाकार अपने अपने नियम, लक्ष्य व सिद्धान्त बनाने व समझाने को बाध्यहै तो न तो समता का निर्वाह संभव है और न रूढ़ी का ही उच्छेद अपने सच्चे अर्थ में कार्य रूप में लाया जासकता है।

## अरस्तू से लेकर आजतक सबका लक्ष्य

अरस्तू काव्य में सूक्ष्म सत्य का भी प्रतिपादन मानता है।

आधुनिक आलोचक एडीसन भी कल्पना और कल्पना जन्य सुखानुभूति की सूक्ष्मता को काव्य का प्राण मानता है। इन्हीं सामान्य मनोवैज्ञानिक आधारों को लेकर इस काल में आलोचना के तीन तत्व स्थिर हुए हैं: —

( क )— वस्तु ( कथनीय विषय )

( ख )— रीति

और ( ग )— सुखानुभव। यह अन्तिम तत्व सुखानुभव ही आधुनिक आलोचना की विशेषता है यह सुखानुभव कल्पना जन्य हैयही कारण है कि कल्पना का प्रभुत्व सभी ने स्वीकार किया है। आधुनिक समालोचना के स्वरूप निर्माण में मैथ्यू आर्नल्ड, वर्स फोल्ड एवं रिचर्डस् आदि की रचनाओं का विशेष हाथ रहा है। इसी प्रकार जब हम पूर्व की ओर देखते हैं तो ज्ञात होताहै कि यहां तो कोई दोहजार वर्ष पूर्व ही से समालोचना के क्षेत्र में वे सिद्धान्त उपस्थित थे जो पश्चिम में आज बने हैं। आज के युग का निर्णय है कि मैटर ( वस्तु) मैनर ( रीति ) और आईडेयलाइजेशन ( आदर्शीकरण )इन्हीं तीन तत्वों को आधार मानकर काव्यालोचन किया जाना चाहिये, पर भारत का यही निर्णय दो हजार वर्ष पूर्व से आजतक चला आरहा है कि अर्थ, शब्द और रस — इन्हीं तीन तत्वों के आधार पर काव्य को परखना चाहिये। इस प्रकार अब निर्णय पर पहुँचना कठिन नहीं कि आधुनिक आलोचना एवं भारत की प्राचीन आलोचना का समन्वय बड़े अच्छे ढंग से होसकता है।